श्रीमच्छंकराचार्य विरचित

चर्पट पंजरिका।

मूल भाषा समश्लोकी पद्य और विवेचन सहित।

लेखक—

परमहंस स्वामी योगानंद (आलू वाले बाबा)

वेदान्त केसरी कार्यालय,
बेलनगंज—आगरा।

१०००]   संवत् १९८७   [मूल्य १)

मुद्रक और प्रकाशक—

बाबू सूरजभान गुप्त,

केसरी प्रेस, बेलनगंज—आगरा।

अनुक्रमणिका।

——(:०:)——

चर्पट पंजरिका

भज गोविन्दं भज गोविन्दं
भज गोविन्दं मूढ़ मते ।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे ॥१॥

अर्थः—हे मूढ़ बुद्धिवाले ! तू गोविन्द ऐसे ईश्वर का भजन कर जब मरण का समय समीप आवेगा तब डुकृञ् करणे (डुकृञ् धातु करने के अर्थ में है) ऐसा व्यकरण का पाठ तेरी रक्षा न हीं करेगा !

भज गोविन्दा, भज गोविन्दा ।
मूढ़ मते रे ! भज गोविन्दा ॥
जब समय मरण का आवेगा ।
नहिं डुकृञ् पाठ बचावेगा ॥ १ ॥

श्रीमच्छङ्कराचार्य इस चर्पट पञ्जरिका के कर्ता हैं, उनकी वाणी लालित्य पूर्ण और चोट करने वाली है इसलिये यह पंजरिका लोगों को अति प्रिय है। बहुत से मनुष्य इसका नित्य पाठ करते

हैं अथवा कण्ठ में रखते हैं। ऐसा कहा जाता है कि एक समय श्रीमच्छङ्कराचार्य काशी में गंगा स्नान करने को जा रहे थे तब उन्होंने एक बूढ़े संन्यासीको डुकृञ् करणेको याद करते हुये देखा यह देख कर उन्हें उसकी बुद्धि का परिचय हुआ। "मरनेके थोड़े दिन बाकी रहे हैं, अब व्याकरण पढ़ने का उसका समय नहीं है, डुकृञ् करणे व्याकरण के आरम्भ में है। ऐसा पढ़ने वाला कब तक व्याकरण को पढ़ेगा, व्याकरण पढ़ कर शास्त्रोंको कब देखेगा और ज्ञान कब प्राप्त करेगा? इसको अब जितना बन सके, जैसे बन सके उतना ईश्वर भजन ही करना चाहिये।" ऐसा विचार कर शङ्कराचार्य ने ऊपर का पद कहा था। इसमें ऐसा नहीं है कि बूढ़े संन्यासी को ही बोध हो, सबको ही बोध दिया गया है इस लिये एकत्र किये हुये बहुतसे उपदेशों को ग्रथित करके यह पंजरिका बनाई गई है। जैसे गुदड़ी से शीत का निवारण होता है इसी प्रकार यह संसार शीत–रूप कष्ट को निवारण करने वाली है।

'मूढ़मते' ऐसा सम्बोधन करके गोविन्द का भजन करने को उपदेश दिया है। जो मनुष्य अपने हिताहित को नहीं समझता जो मनुष्य जन्म प्राप्त कर के ईश्वर का भजन नहीं करता, मैं और मेरा, इस अभिमानसे रात्रि-दिन प्रपंचमें फँसा रहता है, बुद्धि होते हुये भी बुद्धि का सदुपयोग नहीं करता, अपने इस लोक और परलोक सुधारने का यत्न नहीं करता, वह मूढ़ बुद्धि वाला है। चाहे कितना ही पढ़ा हो, शास्त्रों को जानता हो, अथवा दूसरों को शास्त्र सिखाता हो, यदि ईश्वर भजन में उसका चित्त न हो तो

उसे भी शास्त्रकार मूढ़ बुद्धि ही कहते हैं। प्रपंच के भाव में फसी रहने वाली बुद्धि चाहे कितनी भी तीव्र क्यों न हो, मूढ़ ही कही जाती है, निर्मल बुद्धि बिना आत्म-भाव और ईश्वर भजन नहीं हो सकता। जिसकी बुद्धि ऐसी निर्मल नहीं है वे सब ही मूढ़ हैं। जो अत्यन्त मूढ़ बुद्धि वाला है, उसे उपदेश काम नहीं आता, क्यों कि वह उपदेश को प्राप्त ही नहीं होता। इसी प्रकार जो शुद्धि वाला है उसे भी सामान्य उपदेश काम का नहीं है क्योंकि वह प्रथम से ही उपदेश का फल प्राप्त कर चुका है, जो मूढ़ होते हुये भी अति मूढ़ नहीं है, जिसे अपने परलोक सुधारने की इच्छा है, वही इस उपदेश का अधिकारी है। "संन्यासी थां और बूढ़ा" ऐसा देखकर संन्यासी के भेष से ईश्वर प्राप्ति का भाव मालूम होता था। इसलिये मूढ़ बुद्धि होते हुये भी उपदेश का अधिकारी था। जैसे किसी रेलवे के जंक्शन पर गाड़ी आने में आधे घण्टे की देर हो, उस गाड़ी में बैठ कर कहीं जाना हो तो अब आधे घण्टे में दाल रोटी, भात तरकारीका सामान लाकर रसोई बना कर खा पीकर निश्चित हो गाड़ी में सवार नहीं हो सकते, ऐसे समय पर चने चबा कर अथवा पूरी मिठाई लेकर जल्दी खा पीकर तैयार होजाना पड़ता है इसी प्रकार इस मनुष्य शरीर रूप जंकशन पर संन्यासी था। उसकी गाड़ी जानेमें थोड़ी ही देर थी, वह रसोई बनानेकी तैयारी रूप व्याकरण का पाठ घोख रहा था, शंकराचार्य का उपदेश उसको यह जताता है कि अब समय नहीं है जितना कुछ बन जाय उतना ईश्वर भजन रूप चबे चबा कर तैयार हो जा !!

शरीर क्षण भङ्गुर है, उसका नाश कब होगा, यह अनिश्चित है जब कोई जन्म धारण करता है तब ऐसा पत्र लेकर नहीं आता कि अमुक समय तक शरीर रहेगा। शरीर कब तक रहेगा, इस की किसीको भी खबर नहीं है, मनुष्य शरीर बार बार नहीं प्राप्त होता, इसलिये छोटी अवस्थासे ही जबसे समझने की बुद्धि प्राप्त हो तबसे ही स्वधर्म में रत रह कर ईश्वर को जानना चाहिये। अभी बाल्यावस्था है; क्या होगा ! आगे करेंगे, ऐसे अवस्थाओं के भरोसे न रहना चाहिये। ईश्वर भजन के लिये सब ही अवस्थायें अनुकूल हैं। यदि बाल्यावस्था में कुछ न बने तो युवावस्थामें तो अवश्य ही भजन करना चाहिये। युवावस्था भी निकल जाय तो बुढापे में कुछ कर लेना चाहिये। यद्यपि मरण की किसी को खबर नहीं, परन्तु यह तो सभी जानते हैं कि बुढ़ापे के सामने तो मरण खड़ा ही है। ईश्वर कृपा से सब अवस्थाओं के पीछे जब बुढ़ापा प्राप्त हुआ तबतो अवश्य भजन करना उचित है क्योंकि मरण के बाद जब हिसाब होगा, तब ईश्वरके प्रेम बिना सब प्रपंचासक्ति नरक में जाने का कर्म होगा। जिन्दगी भरमें किये हुये शुभाशुभ कर्म की परीक्षा मरण के बाद होती है। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये प्रथम से ही तैयार हो जाना चाहिये। इस पद्य में तीन बार गोविन्द को भजने का आदेश किया है इसका अभिप्राय यह है कि तीनों अवस्थाओं में गोविन्द को भजना चाहिये। अथवा गोविन्दको भजने को तीन रीति हैं, कर्मसे, उपासना से और ज्ञान से। जो जिसका अधिकारी हो, जो जिससे बन सके उस

प्रकार गोविन्द का भजन करे, जिसका अन्तःकरण बहुत मलिन है, उसको शुभ कर्मों द्वारा ईश्वरका भजन करना चाहिये। जिसका अन्तःकरण बहुत मलिन न हो, किन्तु चञ्चलता बहुत हो उसे उपासना द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिये और जिसके अंतःकरण में मलिनता और चंचलता न्यून हैं उसको आत्मज्ञान द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिये। किसी न किसी प्रकार से ईश्वर को अवश्य भजे। हाथ में माला लेकर बैठ गये, मुख से कुछ जप करते रहे, इतना करने से ही भजन होगया, ऐसा न समझना चाहिये। नाम की महिमा कुछ कम नहीं है तो भी नाम नामी के अभेद युक्त हो फल दाता होता है। चाहे जैसे बुरे भले कर्म करते रहें, आधा, पाव घण्टा माला घुमाई जाय, मन से अनेक प्रकारके चिंतवन करते रहें और उसे ही भजन समझें यह मूर्खता है। यद्यपि कुछ न करने वाले से कुछ करने वाला अच्छा है तो भी वह पूर्ण नहीं कहा जाता। दिन भर झूंठ सच की गठरियां बांधते रहें, दूसरे को त्रास देते रहें और नाम मात्र के लिये माला घुमा लिया करें तो इसका क्या फल होगा? कुछ नहीं! न तो इससे दोष की निवृत्ति होगी न इस लोक अथवा परलोक में कुछ फल ही होगा!

एक मनुष्य रोगी और वृद्ध था। रोग के कारण उससे सीधा बैठा नहीं जाता था। उसे भजन पर प्रेम था परन्तु शरीर अशक्त होने से खाट पर बैठा हुआ अथवा लेटे लेटे ही जाप किया करता था। जैसा जप होना चाहिये, ऐसा जप उसका न था।

जप में जैसी एकाग्रता होनी चाहिये, ऐसी एकाग्रता भी न थी; सच्चा झूंठा नाम लिया करता था। वह समझता था कि मैं जो जप करता हूँ, वह ठीक नहीं है तो भी अशक्त होने के कारण उसी जापको जाप समझता था, जाप ठीक नहीं होता क्या किया जाय। शरीर संपत्ति आरोग्यता तो दूसरे जन्म में भले हों, अब शेष आयु को जाप रहित व्यतीत करना ठीक नहीं है, ऐसा वह समझता था और जैसा बनता था वैसा जप किया करता था। एक दिन उसके कुटुम्ब का एक मनुष्य, जो परदेश में रहता था, उससे मिलने को आया। उसने कथा वार्ता सुनी थी, जो कुछ उसने सुना था, उसको वह कह जानता था, परन्तु उसका र्ताव नहीं करता था। थोड़ी देर तक उसने बूढ़े से बात चीत ो। अभी वह बैठा ही था, बूढ़े ने अपना जाप करना आरम्भ किया। बूढ़े को खाट पर बैठे बैठे जाप करते देखकर वह मनुष्य कहने लगा "क्या खाट पर बैठ कर जाप कर रहे हो? शास्त्रों में तो खाट पर बैठ कर जाप करने का निषेध किया है! मैंने तो यहां तक सुना है कि खाट पर बैठकर जाप करने से फलके बदले हानि होती है!" बूढ़ा उस मनुष्य के वर्ताव को जानता था, कहने लगा "भाई! आप किस प्रकार जाप करते हो?" मनुष्य उत्तर देने में रुका! वह जानता था कि यहां झूंठ नहीं चल सकता। अन्त में उसे उत्तर देना ही पड़ा! उसने कहा "मैंने सुना है कि स्नान करके, पवित्र होकर, पवित्र स्थान में आसन लगा कर, एकान्त में बैठ कर जाप करना चाहिये!" बूढ़ा हंसता हुआ बोला "हां!

मैंने भी ऐसा ही सुना है, परन्तु मेरा प्रश्न आपके विषय में है! आप किस प्रकार जाप करते हैं ?" मनुष्य बोला "मेरी क्या पूछते हो ? मैं तो जाप करता ही नहीं। आप तो जानते ही हो कि मेरे पास कितनी झंझट लगी हुई है ! मुझे जाप करने का अवकाश ही कहां है ! आप भूल करते हो, ऐसा समझकर मैंने कहा था !" वृद्धा बोला "वाह ! झंझट तो सभी को लग रही है ! जब तुम जाप करते ही नहीं हो तब तो मैं खाट पर बैठ कर जाप करने वाला तुमसे अच्छा ही हूँ ! उत्तम कार्य न करने से अशुद्धि युक्त करना श्रेष्ठ ही है !" वह मनुष्य लज्जित हो कर चुप हो गया।

इस प्रकार ईश्वर का भजन करने वाला कुछ भी बुरा नहीं करता। वृद्धा तो अशक्त होने से ऐसा करता था। अशक्त होते हुये खाट पर बैठ कर जाप करना ठीक नहीं है। खाट पर हो अथवा आसन लगाकर चंचल चित्त से जाप किया जाय, उसको भी सम्पूर्ण जाप न समझना चाहिये। भजन शब्द की समाप्ति इतने ही में नहीं होती। ईश्वर का नाम पाप कर्मों का नाश कर देता है, ऐसा समझकर प्रति दिन पाप करते रहना और उनकी निवृत्ति के लिये जाप करना, यह जाप नहीं है, ऐसा करने से पाप की निवृत्ति नहीं होती और अन्तःकरण की शुद्धि भी नहीं होती। जिन कर्मोंसे जपसे उपासनासे अन्तःकरण की शुद्धि हो उनको ही भजन समझना चाहिये। अन्तःकरण में ईश्वर का ध्यान करके, ईश्वर को पहिचान कर तदाकार वृत्ति होना भजन है ऐसे भजन से सब क्ले-

शोंकी निवृत्ति होती है, ईश्वर सर्वव्यापक है, स्थूल मन ईश्वर को सूक्ष्मता में जा नहीं सकता, नये अभ्यासियों को ईश्वर में प्रीति उत्पन्न होनेके निमित्त स्थूल अथवा सूक्ष्म देवके अवलम्बनसे पूजन करना युक्त है, आवाहनसे आरम्भ करके पुष्पांजली पर्यन्त पूजन करना चाहिये। पूजन में एकाग्र होकर ऐसा ध्यान करना चाहिये कि आनन्द का अनुभव हो। इतना होने से यह न समझना चाहिये कि पूरा भजन हो चुका। ईश्वर सर्व व्यापक है, ईश्वर को किसी से द्रोह नहीं है, ईश्वर समान दृष्टिवाला और सब में समान प्रेमवाला है, ऐसे गुणों का प्रवेश अपने में करना चाहिये, यह भी एक प्रकार का उत्तम भजन ही है। जो जाप नहीं करता उसे जाप करना चाहिये, जो जाप करता है उसे एकाग्रता से जाप करना चाहिये। जो पूजन नहीं करता उसको स्थूल-प्रतिमा में भाव रखकर पूजन करना चाहिये। जो स्थूल पूजन करता है उसे क्रमशः सूक्ष्म में जाना चाहिये। अन्त में सर्वव्यापक भावमें स्थिति करना ही उत्तम भजन है, इस प्रकार की स्थिति ही उत्तम भजन है।

भजन भाव से होता है। भाव-भक्ति न हो तो भजन कहां? भाव जगत् का हो तो भजन भी जगत् का ही होता रहता है। जगत् का भाव छुटे विना भजन कहां? जब तक जगत् के विषय-ऐश्वर्य प्रिय लगते हैं तब तक ईश्वर प्रिय नहीं लगता। जितनी जितनी जगत् की तुच्छता समझी जायगी उतनी उतनी ईश्वर की विशेषता समझमें आती जायगी। जब जगत् में व्यवहार पूरता

हाँ प्रेम होता है तब ईश्वर भजन का आरम्भ होता है। जगत् में विशेष प्रेम वाला भले माला लेकर बैठे, घण्टों पूजा पाठ में लगा रहे तो भी उसका भजन ईश्वर भजन नहीं है, ईश्वर के नाम से जगत् के ऐश्वर्य का ही भजन है। लक्ष्मी की कामना से, पुत्र की कामना से अथवा मुकद्दमा जीतने की कामनासे किया हुआ भजन जगत् का भजन है अथवा यों कहो कि जगत् में हमको न्यूनता है अथवा हमारा काम रुका हुआ है उस कार्य के करानेको हम ईश्वर को लालच देकर मजदूर बनाते हैं। ईश्वर मजदूर बने या न बने, हम तो उसको मजदूर बना ही डालते हैं। भला! ईश्वर को हमारा काम करने वाला मजदूर बनाने को कौन ईश्वर भजन कह सकता है? कोई नहीं! जीव अनादि अविद्या में पड़ा हुआ है जीव की वृत्ति बाहर जगत् की तरफ है। जीव हमेशा बाहरके पदार्थों को ही चाहता रहता है, ईश्वर की तरफ जीव को कुछ सूझता नहीं है, ईश्वर की तरफ से कुछ फल मिलता हुआ भी नहीं दीखता। ऐसा होने से पामर ईश्वर भजन में नहीं लगते। रोगी और अर्थ चाहने वालों को भी शास्त्रकारों ने भक्त कहा है। भक्त कहने से शास्त्रकारों का यह अभिप्राय नहीं है कि वे भक्त ही हैं किन्तु उन्हें भक्त इसलिये कहा है कि कष्टनिवारण और अर्थ प्राप्ति के निमित्त उन्हें ईश्वर भाव होता है। ऐसे लोग भी समय पाकर भक्ति में आ जांय, इस अभिप्राय से शास्त्रकारों का ऐसा कहना है। कई मनुष्य को देखा है कि आप तो झूंठा मूंठा भजन भी नहीं करते और जब किसी को भजन करते देखते हैं तो दूसरे का खोट निकालते हैं।

किसी २ को ऐसा कहते हुये भी सुना है "भजन से कुछ पेट थोड़ा ही भरता है ! पेट तो भोजन से भरता है ! धन कमावेंगे तभी काम चलेगा !" इस प्रकार कहने वाले पामरों का भी आजकल टोटा नहीं है। यह बात तो अवश्य है कि यदि तुम ईश्वर भजन से अपने प्रापंचिक ऐश्वर्य की वृद्धि चाहो तो तत्क्षण नहीं होती। ईश्वर भजन का वास्तविक फल तो आंतर शांति, आनन्द और परम पद है।

गोविन्द शब्द का अर्थ अन्तर्यामी ईश्वर है। जो सबका आद्य स्थान, अपना आप है, वह ही गोविन्द का गूढ़ अर्थ है। इन्द्रियों अथवा वेद वाक्यों से जो जाना जाय—समझने में आवे वह गोविन्द है, जो इन्द्रियों से जाना जाता है वह सगुण ब्रह्म है और वेद के महा वाक्यों द्वारा जिसका बोध होता है, वह निर्गुण ब्रह्म है, ये दोनों ही गोविन्द शब्द के अर्थ हैं, अथवा इन्द्रियों का जो अधिपति है, वह गोविन्द है, उस गोविन्द के भजन करने योग्यो पूर्ण शरीर मनुष्य शरीर है। यदि मनुष्य शरीर में ही ईश्वर का ज्ञान न हुआ तो अन्य किस शरीर में होगा। मनुष्य शरीर में ही ज्ञान हो सकता है इसी कारण मनुष्य शरीर दुर्लभ कहा है। दुर्लभ होते हुये भी यह शरीर क्षण भंगुर है। मरण का समय नियत नहीं है इसलिये जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी भजन में प्रेम लगाना चाहिये, परन्तु शोक इस बात का है कि सब का मृत्यु देखते हैं, अपना भी अवश्य मृत्यु होगा, ऐसा निश्चय करते हैं, फिर भी 'मैं अजर अमर हूँ' ऐसा वर्ताव होता हुआ देखने में

आता है। यह ही भूल है! व्यवहारिक कार्य की विशेष आवश्यकता समझी जाती है! ईश्वर भजन तो फालतू समय में—अवकाश में किया जाय, ऐसा मान रक्खा है। ऐसा मानने वालों को अन्त में पश्चात्ताप ही होता है। जो हीरे को छोड कर कांच के टुकड़े जमा करने में ही परिश्रम कर रहा है, उसे क्या फल होगा। ईश्वर भजन हीरा है, प्रपंच के पदार्थों की आसक्ति कांचका टुकड़ा है, विद्वानोंने लोगोंके समझानेके लिये ईश्वर की भक्ति नव प्रकार की दिखलाई है और भक्ति करने वालोंमें वह प्रसिद्ध हो गई है:—(१) सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक ईश्वर का तत्त्वनिष्ठ पुरुष से श्रवण करना, इसको श्रवण कहते हैं। राजा परीक्षित ने इस प्रकारकी श्रवण भक्ति करके परब्रह्मको जाना था। (२) परब्रह्मका दूसरे अधिकारियोंको श्रवण कराना, वारंवार मंनन कीर्तन करना, इसको कीर्तन भक्ति कहते हैं, शुकदेवजीने इसी प्रकार ऋषि मण्डली में वारंवार कथन करके परम पद प्राप्त किया था। (३) परमात्मा का सर्वात्मक रूप से स्मरण करना स्मरण भक्ति है, इस प्रकार की स्मरण भक्ति प्रह्लादने की थी। (४) ॐकार के अकार उकार, मकार और अमात्र स्वरूप का सेवन करना, अथवा मायाकृत लीला विग्रह अवतार आदिकके चरणोंकी सेवा करना अथवा परब्रह्म स्वरूप ऐसा जो ब्रह्मनिष्ठ गुरु हैं उसकी पाद सेवा करना पाद सेवन भक्ति है। इस प्रकारकी पाद सेवन भक्ति लक्ष्मीजी ने की थी। (५) विष्णुके लीला विग्रह राम कृष्णादि अवतार का, सालिग्राम आदि मूर्ति का अथवा परब्रह्म स्वरूप उत्तम

ज्ञानी पुरुष का पूजन करना, इसको अर्चना भक्ति कहते हैं। इस प्रकार की अर्चना भक्ति राजा पृथुने की थी (६) सर्वात्म परब्रह्म अथवा विष्णुको नमस्कार करना, अपने को उस स्वरूप में झुका देना—डुबा देना वन्दन भक्ति है। इस प्रकार की वन्दन भक्ति अक्रूरजी ने की थी। (७) लीला विग्रह परमेश्वर का अथवा ब्रह्म-निष्ठ सद्गुरु का दासपना करना, इसको दास्य भक्ति कहते हैं। इस प्रकार की दास्य भक्ति हनुमानजी ने की थी। (८) लीला विग्रह परमेश्वर के अवतार अथवा ज्ञानी पुरुष से मित्रता करना, सखा भाव रखना, इसे सख्य भक्ति कहते हैं, ऐसी सख्य भक्ति अर्जुन ने की थी। (९) परब्रह्म के निमित्त अथवा परब्रह्म के प्रतिनिधि रूप ज्ञानी पुरुष के निमित्त अपने सहित सब कुछ अर्पण कर देना, इसे आत्म समर्पण अथवा आत्म निवेदक भक्ति कहते हैं। ऐसी भक्ति राजा बलिने की थी। इस प्रकार भक्तिका विस्तार शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

'अभी हमारी कम उमर है, हमने संसार में कुछ देखा ही नहीं है, जब बड़े होंगे तब भजन कर लेंगे, अमुक काम हमारा बाकी है, वह काम हो जायगा तब निश्चिन्तता से भजन करेंगे ऐसा विचार कर भजन की बात को पीछे डालने वाले लोग भजन कभी भी नहीं कर सकते। मनुष्य काम रहित और निश्चिंत कभी होता ही नहीं! न वह निश्चिन्त होगा न भजन करेगा! भजन को पीछे डालने वाला सब से पीछे की योनियों में ही जन्म धारण करता है। भजन में छोटी अथवा बड़ी अवस्था की आवश्यकता

नहीं है। भजन सब अवस्थाओं और सब आश्रमोंमें हो सका है बुढ़ापेमें भजन करेंगे, ऐसा विचार करने वालेकी बुद्धि बुड्ढी हो गई है, ऐसा समझना चाहिये। व्यवहारके तुच्छ कार्य भी बुढ़ापेमें नहीं हो सकते तो अमूल्य ऐसे भजनका कार्य किस प्रकार होगा। जब प्रपचके कार्य करनेमें ही बूढ़ा अयोग्य होता है तो ईश्वर भजन करने योग्य किस प्रकार होगा? इस लिये जब सामर्थ्य हो तब ही ईश्वर भजनमें लगना चाहिये। बुढ़ापेमें भजन करनेकी आवश्यकता है परन्तु हो नहीं सकता। जिसने प्रथम कुछ भजन किया होता है वह ही बुढ़ापेमें कर सकता है इसलिये भजनके लिये बुढ़ापेकी राह देखना व्यर्थ है।

एक संतके पास एक मनुष्य जाकर कहने लगा "महाराज! मैं आपसे एक बात पूछनेको आया हूं!" सन्तने पूछनेकी आज्ञा दी तब मनुष्य बोला "महाराज! मैं इतना जानना चाहता हूं कि मैं कब तक जियूंगा?" सन्तने कहा "ऐसा जानने में तेरा क्या अभिप्राय है?" मनुष्य बोला "संसार मुझको अच्छा नही लगता, उसको छोड़ना चाहता हूं परन्तु छोड़ा नहीं जाता! बहुत कष्ट पा रहा हूं इसलिये जल्दी मरना चाहता हूं! यह विचार भी होता है कि यदि मेरा मृत्यु जल्दी होने वाला हो तो कुछ भजन कर लूं, मुझसे कुछ भजन हुआ नहीं है!" सन्तने कहा "अरे मूर्ख! तू क्या कहता है? क्या तुझे अपनी मृत्युकी खबर नहीं है? तू भजन क्यों नहीं करता? तू तो आज रातको ही मर जाने वाला है! जा! जा!! जल्दीसे जाकर भजन कर!" संतने

वचन इस प्रकार कहे थे कि मनुष्यको सच्चे मालूम हुये! वह प्रणाम करके घर पर पहुंचा और भजन करने बैठ गया। मनुष्योंको मृत्युके समान अन्य किसीका भय नहीं है! वह रात्रिके बारह बजे तक भजन करता रहा, सोनेको चित्त चाहता था परन्तु वह सोता न था 'कहीं सोते ही में मृत्यु आगया तो मेरा भजन निष्फल जायगा' इस विचारसे वह रात्रि भर कुछ न कुछ भजन करता ही रहा! जब सुबह हुआ तो वह अपनेको मरा न देखकर संतके पास पहुंचा और प्रणाम करके बैठ गया। संतने उसे देख कर कहा "क्या तू अभी तक जीता है?" मनुष्य बोला आपके सामने बैठा हूं! मुझे आश्चर्य होता है कि आप जैसे संत भी झूंठ बोलते हैं! मुझसे रात भर भजन कराया! मैं रात भर जागा हूं और भजन करता रहा हूं!" संत हंसते हुये बोले "तब तूने भजन करके ही यमदूतोंको भगा दिया! मेरा वचन तो ठीक ही था परन्तु तूने भजन खूब किया, सोया भी नहीं, इसीसे तेरे पास आने को यमदूतों की हिम्मत न पड़ी! वे कल नहीं आये तो आज अवश्य आवेंगे, आज भी गाफिल रहा तो तुझे बांध कर ले जांयगे! अभी तेरा भजन इतना प्रबल नहीं है कि ईश्वरके दूत तुझे लेने आवें! आज भी भजन करते हुये ही रात्रि व्यतीत कर! मनुष्य बोला 'आप तो मुझे मेरे मनसे विरुद्ध बात बताते हो! मैं तो स्वयं जल्दीसे मरना चाहता हूं! आप ऐसी शिक्षा देते हो कि मृत्यु दूर रहे!' सन्तने कहा 'तेरा मृत्यु तो अवश्य ही होगा, यदि तू कुछ भजन कर लेगा तो तेरा मृत्यु अच्छा होगा,

मेरा वचन मानने से तू सुखी होगा !" दूसरे दिन भी उस मनुष्यने भजन में रात्रि व्यतीत की, वह मरा नहीं और संत के पास पहुँचा संत ने देखते ही कहा "वाह ! आज भी तू जिन्दा ही है ! तू प्रति दिन इसी प्रकार कर ! सब मनुष्य रात्रि में मर जाते हैं और प्रातः काल जी उठते है, "मेरा मृत्यु रात्रि में ही होने वाला है' इस प्रकार समझ कर सब कार्य को समाप्त करके भजन करते हुये ही सोना चाहिये, जो जिन्दा उठे तो समझना चाहिये कि ईश्वर ने भजन करने को एक दिन विशेष प्रदान किया है, ऐसा समझ कर भजन को कभी न छोड़े !" दो दिन खूब भजन करने से उस सीधे मनुष्य का अन्तःकरण कुछ शुद्ध हो गया था इसलिये उसने संत की बात मान ली और भजन करते २ वह सुखी हुआ, लोगोंके देखने में भी उसका मृत्यु अच्छा हुआ। सन्त के उपदेश के समान मृत्यु नङ्गी तलवार लिये हुये शरीर के ऊपर खड़ा हुआ है, केवल तलवार को नीचा करने की देरी है, ऐसा समझ कर भजनमें लगे रहना चाहिये।

कितने ही मनुष्यों का कहना है कि भजन में ही लगे रहेंगे तो व्यवहार का काम बिगड़ेगा। यह अबुद्ध मनुष्यों का कहना है, भजन को न समझने वाले ही ऐसा कहते हैं, भजन किसी कार्यको बिगाड़ने वाला नहीं है, उलटा भजन न करने वाला कार्य को बिगाड़ता है। कोई चौबीस घन्टे व्यवहार का कार्य नहीं कर सकता। अपनी मरजी में आवे उस काम में से घन्टे दो घन्टे निकाल सकते हैं, तो भजन के निमित्त इतना अवकाश निकालने में क्या

आपत्ति है ? जो थोड़ा भी भजन करता है उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है और निर्मल बुद्धि से किया हुआ व्यवहारिक कार्य भी उत्तम प्रकार से होता है। भजन रहित बुद्धि मलिन होती है, मलिन बुद्धि से किया हुआ व्यवहारिक कार्य बिगड़ता है। भजन व्यवहार और परलोक दोनों को सुधारने वाला है। यह लोक भी भजन बिना नहीं सुधरता तब परलोक तो कहां सुधरेगा ? कई ऐसे भी कहने वाले हैं कि गृहस्थी में भजन नहीं हो सकता, गृहस्थ के लिये भजन नहीं है, यह भी पक्की भूल है। भजन के लिये चारों आश्रम ही अनुकूल है, गृहस्थियों को जो चिंतायें नहीं हैं, ऐसी चिन्तायें गृहस्थी त्यागने वालों को होती हैं। गृहस्थ त्यागियों की चिन्ताओं को नहीं समझते इसलिये उनको चिन्ता रहित और भजन करने योग्य समझते हैं, चिन्ता झंझट हर किसी को लग रही है और शरीर रहेगा वहां तक अवश्य रहेगी। उसके साथ साथ ही जो कार्य करेंगे तो होगा क्योंकि गृहस्थी तो प्रत्येक के भीतर भरी हुई है, जहां वह जाता है, गृहस्थी को साथ ले जाता है, इसलिये गृहस्थी छोड़ कर भजन करने के भरोसे न रहना चाहिये। जो संस्कारी होता है उसका बाह्य प्रपंच कम होता है, जब ऐसा न हो तो गृहस्थी में रह कर भी जो बन सके उसे प्रेम से करना चाहिये।

जगत्‌दास नाम का एक वैश्य था। वह अपने व्यवहार में कुशल था, साथ ही बहुत कुटुम्ब वाला और धनाढ्य था। धनाढ्य होकर भी वह कंजूस न था। उसकी कई दुकानें और

गोदाम देश परदेश में चलते थे। वह सबकी देखा भाली किया करता था और जिस प्रकार धन और प्रतिष्ठा बढ़े ऐसे प्रयास में रहता था। उसके बड़े २ चार लड़के और चार लड़कियां थीं, लड़कों के लड़के और उनके भी लड़कियां बहुत थीं, वह उन सबको प्रसन्न रखता था। ग्राम में, जाति में और सरकार दरबार में भी उसकी आबरू अच्छी थी। उसने कई धर्मशालायें बनवाई थीं। उसके नाम से कई प्याऊ चलती थीं, कई मदरसोंमें उसकी मदद थी। सारांश यह है कि धन कमाता भी बहुत था, युक्तिपूर्वक खर्च भी करता था और जमा भी होता रहता था। व्यवहारी मनुष्यों में वह एक उत्तम पुरुष समझा जाता था। सब कुछ ठीक होते हुये उसे कुटुम्ब में बहुत आसक्ति थी। इतने लम्बे चौड़े व्यपार में फंसे रहने से और कुटुम्ब के जाल में बंधे रहने से वह भजन को कुछ समझता ही न था। भजन करने की उसे फुरसत ही नहीं थी। जैसे कोई २ मनुष्य कहा करते हैं कि मरने तक की फुरसत नहीं है, भजन करने को फुरसत कहां से लावें इसी प्रकार का उसका हाल था और स्वार्थी पण्डितों ने उसे ऐसा ही समझा भी रक्खा था कि तुम दान, धर्म करते हो यह ही तुम्हारा भजन है। वह दान, पुण्य और कुटुम्ब की सहायता पर ही निर्भय था, जब कभी थोड़ा बीमार पड़ता तो दास, दासी और कुटुम्ब के मनुष्य सेवा करने को तैयार थे। इस प्रकार वह बहुत समय तक जीकर अन्त में मरण के बिस्तर पर पड़ा। अभी तक उसने अपने सब कार्यालयों की और खजानों की चाबियां

लड़कों को नहीं दी थीं। सबने जान लिया कि अब साहूकार अवश्य मरेगा। अब तक सब सेवा करने को उपस्थित रहते थे। दूर २ के कुटुम्बी भी बीमारी सुन कर आ गये थे। सब की यह इच्छा थी कि मरते समय साहूकार उनको कुछ दे जाय। गले में घुरघुरी चल उठी, बोल अस्पष्ट होने लगा, यह देख कर बड़े लड़के ने कहा "पिताजी! जो कुछ कहना हो सो कह दो, अब तुम्हारा बोल बन्द होने को है!" दूसरा लड़का बोल उठा "खज़ाने की चाबी दे दो!" तीसरा बोला "जिससे कुछ लेना हो, सो समझा दो, नहीं तो मुनीम गुमाश्ते खा जायगे!" चौथा बोला "कहीं धन गड़ा हो तो बतला दो, तुम तो चले, हम किससे पूछेंगे?" साहूकार के छोटे भाई की विधवा समय पाकर बोली "जेठजी! मेरा कुछ बन्दोबस्त कर जाना!" साहूकार पीड़ा के मारे दुखी हो रहा था और सबको अपने लेनें की पड़ी थी। हजारों बिच्छू काटते हों, इस प्रकार की पीड़ा हो रही थी। साहूकार ने इशारे से कहा "हां!" बोल बन्द होने की तैयारी देख कर सब विकल हो रहे थे और सोच रहे थे कि बोल बन्द हो गया तो उन्हें कुछ नहीं मिलेगा। कई वैद्य डाक्टरों को ले आये और उनसे हिरण्य-गर्भ समान तेज दवा देने की प्रार्थना करने लगे कि जिससे वह कुछ कह सुन ले। ऐसी तेज दवायें दी गईं और उसकी वाचा खुली! वह बोल उठा "मैंने संपूर्ण विल करके अमुक २ सोलीसीटर के यहां रख दिया है, अब मुझसे बोला नहीं जाता!" इतना कह कर बेहोश हो गया, थोड़ी देर में सन्निपात में

चकवाद करने लगा "हाय! ये काले २ भूत कौन हैं? यमराज के दूत हैं, उसके साथ चार कुत्ते हैं, कुत्ते भयंकर दृष्टि से मुझे देख रहे हैं! मुन्नी! (बड़े लड़के का नाम) मुझे इनसे बचा! हाय रे! ये दुष्ट मुझे बांध रहे हैं! जबरन मुझे खैंच कर लेजा रहे हैं!" मुन्नीलाल बोला "कौन है? यहां तो कोई नहीं है! तुमको भ्रम होगया है!" साहूकार दांत पीस कर बोला "हाय रे! मुझे मूर्ख बनाता है! तुझे बहुतसा धन देकर जा रहा हूं तू मेरी रक्षा नहीं करता! धनी! (दूसरे लड़के का नाम) मुझे यह खींच रहा है! आकर छुड़ा!" धनी बोला "तुमने तो मुझ से विशेष धन मुन्नी को दिया है, मुन्नी ही तुम्हारा प्यारा है!" साहूकार बोला "गौरी! (स्त्री का नाम) मुझे छुड़ा!" गौरी बोली "इन्हें यम के दूत दीख रहे हैं! दूसरी के लड़कों पर प्रेम कर के मुझे दुःख दिया है, इसी का फल पा रहे हैं।" साहूकार सब को पुकार चुका, किसी ने भी आकर मदद न की। यमदूत उसे तंग कर रहे थे, जी में विचारने लगा "हाय! कोई कुटुम्बी मेरी रक्षा नहीं करता। इन दुष्टों को मार कर कोई नहीं भगाता मैंने अमुक २ धर्मशालायें बनवाई हैं, यह पुण्य मेरी रक्षा करेगा।" जब साहूकार ऐसा विचार रहा था तब एक छोटी लड़की बोली "नानाजी! तुम्हारा सिराहिना बदले देती हूँ, थूक से खराब हो गया है।" यह कह कर लड़की ने सिरहाना बदल कर दूसरा रख दिया। धर्मशालाओं के पुण्य को भी मदद देता न देख कर साहूकार जी में कहने लगा "मैंने अमुक २ स्थानों पर प्याऊ बनवाये

हैं, वह पुण्य मेरी रक्षा करे।" दूसरी लड़की बोली "दादाजी! पानी पिओगे" प्याऊ से भी रक्षा होती न देख कर साहूकार बोला (इस समय उसकी आवाज बाहर सुनाई दी) "मैंने अमुक २ मदरसे बनवाये हैं, अमुक २ को मैंने इतना दान दिया है!" बड़ा लड़का बोला "सन्निपात में बकता है!" मदरसे ने भी कुछ मदद न की देख कर साहूकार विचारने लगा "हाय! अमुक २ कथा में अमुक २ पण्डितों को दिया था, इतना अन्न दान दिया था, वह मेरी रक्षा करे!" मुन्नीलाल बोला "अन्त समय है, गो दान दो, वाट चवेनी कराओ!" साहूकारने जो जो किया था सब गिना डाला, यमदूतों ने रक्षा न की तब साहूकार यमदूतों से कहने लगा "मैंने शुभ कर्म किया है मुझे बांध कर क्यों लिये जाते हो?" यमदूत बोला "शुभ कर्म किया है, दान धर्म किया है वो दूसरे जन्म में भोग होगा। हमको क्या? सांसारासक्ति-रूप पाप कुछ कम है? तू ने ईश्वर भजन कब किया था? ईश्वर भजन करने वाले की ही हम रक्षा करते हैं। दूसरों की नहीं!" साहूकार की नाडी बन्द हो गई, जमीन पर उतार लिया गया, मरने के बाद उन्हीं सब कुटुम्बियों ने उसे जला दिया!

साहूकार ने इतने बुरे कर्म नहीं किये थे परन्तु सब से बुरी में बुरी सब पापों की जड़ रूपसंसारासक्ति उसमें पूर्ण थी। जिनको वह अपना समझता था वे शरीर, कुटुम्बी, धन, कीर्ति कुछ भी काम न आये। परलोक का धन रूप भजन परलोक की सवारी का किराया, हाय! साहूकार के पास न था! इसलिये उसे अत्यन्त

कष्ट हुआ। जो मनुष्य ईश्वर भजन नहीं करता उसका हाल इस साहूकार के समान ही होता है। जगतदास जीव है, चार बड़े लड़के काम, क्रोध, लोभ, मोह हैं। इसी प्रकार का इसका कुटुम्ब है। जीव कुटुम्ब—संसार में फंसा हुआ यम दूतों से ही त्रास को प्राप्त होता है इसलिये आसक्तियुक्त सब काम तजे और ईश्वर को भजे।

बालस्तावत्क्रीड़ासक्त—
स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः
वृद्धस्तावच्चिंतामग्नः
परेब्रह्मणि कोऽपिनलग्नः ॥२॥ भज०

अर्थ—जब तक मनुष्य बालक होता है तब तक खेल कूदमें लगा रहता है, जब तक युवान रहता है तब तक युवान स्त्री में आसक्त रहता है और जब वृद्ध होता है तब चिन्ताओं में डूबा रहता है, परन्तु कोई परब्रह्म में आसक्त नहीं होता इसलिये हे मूढ़ बुद्धि वाले! तू गोविन्द का भजन करले।

बाल्यावस्था खेल गंवावत,
होय तरुण तरुणी मन भावत।
वृद्ध भये चिन्ता बाढि जावत,
परब्रह्म कोई नहि ध्यावत ॥२॥ भज०

सब प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है। पूर्व जन्मों के जब अनेक पुन्य एकत्र होते हैं तब उस पुण्य के प्रभाव से सब योनियों से

उत्तम ऐसी मनुष्य योनि में जन्म होता है। उसमें भी श्रेष्ठ कुल में जन्म होना विशेष पुण्य का फल है। उच्च कुल में जन्म होनेसे सब संयोग भी अच्छे प्राप्त होतेहैं, रात्रि दिन के समान अच्छी बुरी स्थिति जन्म से मरण पर्यन्त घूमा करती है, और उसमें जो सुख दुःखादि हुआ करते हैं उनको अनुमान से—शास्त्र से जानता हैं कि वे प्रारब्ध के होंगे! शरीर दुःख और रोग का घर है। कोई भी शरीरधारी होकर रोग से अथवा दुःख से रहित नहीं होता। जो शरीर प्राप्त हुआ है, जिन कर्मों से प्राप्त हुआ है उस प्रारब्ध के अनुसार सुख दुःख अवश्य ही होगा। सुख किंचित और दुख विशेष है। जिसे लोग सुख कहते हैं, वह सुख भी यथार्थ नहीं है इसलिये मनुष्य जन्म धारण करके शरीर के प्रारब्ध की तरफ ध्यान न देकर ऐसा यत्न करना चाहिये कि दुःख के भंडार रूप शरीर की प्राप्ति फिरसे न हो। मनुष्य शरीर में ही ऐसा होना संभव है इसलिये मनुष्य शरीरको उत्तम कहा है। उसमें बुद्धि की विशेषता होने से परमानन्द रूप परम पद की प्राप्ति कर सकते हैं। अन्य योनियों में बुद्धि विशेष मलिन होने से वे योनियां मोक्ष प्राप्त करने के लिये आयोग्य है।

कई शास्त्रों में लिखा है कि जीव जब स्थूल शरीर से पृथक होता है तब अपने कर्मों का स्मरण करके बहुत पश्चात्ताप करता है, किये हुये कर्मों के अनुसार यम यातना भोगता है यम यातना भोग कर अन्त में शेष रहे हुये कर्मों के अनुसार मनुष्य जन्म धारण

करने के लिये माता के उदर में आता है, वहां भी गर्भ वास के दुःखों से दुखी होकर बहुत पश्चात्ताप करता है और बंधन में से छूटने के बाद बंधन कारक कार्य न करने की प्रतिज्ञा करता है अथवा ऐसा कहो कि गर्भ में जीव को अपने पूर्व जन्म की याद रहती है, वह दुःखी होकर ईश्वर से प्रार्थना करता है:—'हे दीनबन्धो! मुझे गर्भवास के दुःख से मुक्त कर! मैं जन्म धारण करके शुभ कार्य करूंगा, आपका ही भजन करूंगा!' बाद जब जीव गर्भ में से इस संसार में आता है तब विश्व का वायु लगते ही माया के प्रभाव से पूर्व की सब स्मृति जाती रहती है और पूर्व जन्म के मरण से लेकर इस जन्म तक क्या क्या कष्ट भोगना पड़ा है यह सब भूल जाता है, पूर्व में जो जो जन्म धारण कर चुका है उन सबको भी भूल जाता है। इस संसार में आते ही उसकी बुद्धि स्थूल शरीर से युक्त होती है। स्थूल शरीर छोटा होने से बुद्धि और इन्द्रियां विकसित नहीं होतीं इसलिये यहां आते ही जीव मूढ़ हो जाता है, उसे इस संसार और पूर्व का कुछ भी बोध नहीं होता, अपने पराये की भी कुछ खबर नहीं रहती, ज्यों ज्यों शरीर बढ़ता जाता है त्यों त्यों बुद्धि और इन्द्रियां स्थूल में स्थिरता को प्राप्त होती जाती है, यहाँ का बोध होने लगता है। धीरे २ माता पिता की बोल चाल, रीति भांति को सीखने लगता है। जैसे २ स्थूल शरीर बढ़ता है वैसे २ बुद्धि विकसित होती है और इस जगत् का विशेष बोध करने लगता है। बाल्यावस्था में जो २ दुःख भोगने पड़ते हैं, उनको भी आगे भूल जाता है, इस परवश अवस्था में

बालक का सब आधार माता पिता के ऊपर है, जब वे खिलावें पिलावें तब खाता पीता है। जब दुःख होता तब बालक रोता है, कह नहीं सकता, मल मूत्रादि में ही पड़ा रहना पड़ता है। बालक को इस अवस्था में यह बोध नहीं रहता कि माता पिता कितना कष्ट सहन करके मेरा पालन पोषण करते है और बड़े होने पर भी यथार्थ बोध नहीं होता। जब दूसरों के बच्चे होते हुये देखते हैं अथवा अपने बच्चों को कितने कष्ट से बड़ा करते हैं, यह देख कर अनुमान कर सकते है कि हमारे माता पिता ने भी इसी प्रकार से हमको बड़ा किया होगा। चार पांच वर्ष की अवस्था के प्रथम का स्मरण किसी को नहीं रहता, उसके बाद की अवस्था का कुछ २ स्मरण रहता है। यह अवस्था ईश्वर भजन करने के लिये योग्य नहीं है उसके बाद की अवस्था विशेष खेल कूद में जाती है। इस अवस्था में यह बोध नहीं होता कि मनुष्यत्व के योग्य मुझको क्या करना चाहिये। गुल्ली डंडा, कबड्डी, चकई, भौंरा इत्यादि खेल खेलता है, मिट्टी में खेलना अच्छा लगता है, अपने बराबर वालों के साथ खेलना कूदना, झगड़ा करना, एक दूसरे को मारना, रोना, मारकर भाग जाना, यह दिनचर्या होती है। बालक माता पिता के प्यार से बिगड़ जाता है, जब खेलने में चित्त लग जाता है तब खाना पीना भी भूल जाता है। खाने के पदार्थों में हठ करता है, और दूसरे के पास वस्तु देख कर लेने की इच्छा करता है। यदि वह वस्तु न दें और छोटा हो तो छीन लेता है, मारता है और बड़े से जब वश

नहीं चलता तब रोने लगता है। हंसना, रोना, गिरना, पड़ना और तूफ़ान मचाना, यह बालक का व्यवसाय होता है। जब किसी बालक को पढ़ने भेजा जाता है तो वह वहां भी ऊधम मचाता है, पढ़ना अच्छा नहीं लगता, शिक्षक का डर रहता है। जो बालक पढ़ने को नहीं भेजा जाता, वह अपने सब समय को खेल में ही व्यतीत करता है। थोड़ी समझ वाली इस मूढ़ अवस्था में बच्चों को जो दुःख होता है, उसको वेही जानते हैं। इस प्रकार की अवस्था में ईश्वर भजन करने का अवकाश ही नहीं है। जो कोई पढ़ने जाता है, पाठ याद नहीं करता है, बिना दिल पाठशाला में बैठे रहना और बिना रुचि पढ़ना बहुत बुरा मालूम होता है, परन्तु शिक्षक और माता पिता के भय से पढ़ना ही पड़ता है। आठ दश वर्ष तक की अवस्था इसी प्रकार की होती है, बाद बुद्धि कुछ बढ़ने लगती है। किसी को दश वर्ष में, किसी को बारह वर्ष में किसी को सोलह अठारह अथवा बीस वर्ष में यह बोध होता है कि मैं मनुष्य हूँ, कुलीन हूँ, मुझको पढ़ना चाहिये, कमाई करना चाहिये, विवाह आदि करना चाहिये और सुखी होना चाहिये। यदि माता पिता पढ़े हुये होते है तो लड़के को पढ़ने भेजत हैं। जब तक उसे विद्या का स्वाद नहीं आता तब तक उसे पाठशाला जेलखाने के समान दीखती है और बच्चा छुट्टी के दिन को गिना करता है। माता पिता ही ईश्वर भजन नहीं करते तब उनको देख कर भजन करने का भाव आवे ही कहां से? व्यवहार के जाल में स्वयं जकड़े हुये पिता आदिक बालकपन में भजन-

पूजन सिखाते ही नहीं ! कभी कोई लड़का किसी को देख कर पूजन करने की इच्छा करे तो घर के सब लोग कहने लगते हैं:— "अभी तू क्या समझे ? लंगोटी बांधना भी नहीं आता ! जब बड़ा हो जाय तब कर लीजो । भजन पूजन करना तो बूढ़ों का काम है ! अभी तो तुझे संसार का कार्य करना है ! कुछ पढ़ लिख, धंधे में लग, तेरी शादी होने वाली है, जल्दी से कमाने लगजा वहू आवेगी तो गहनाकपड़ा मांगेगी, कमाई न करता होगा तो क्या देगा ? हम कोई जन्म भर के साथी थोड़े ही हैं ! अब तू छोटा नहीं है ! घर वार की तो चिन्ता कर !" जहां इस प्रकार का उपदेश मिलता हो वहां भजन भाव में लगना हो ही कहां से ? इस प्रकार वाल्यावस्था चली जाती है। जिस कोमल वुद्धि में ईश्वर भाव का संस्कार पड़ने की अवाश्यकता है, वहां प्रपंचके रस्से से चारों तरफ से जकड़ा जाता है । प्रथम तो लड़के की चित्तवृत्ति ही ईश्वर की तरफ जाना अशक्य है, कभी किसी की वृत्ति हुई भी तो वृत्ति को तोड़ने वाले वहुत हैं । यदि कोई छोटी उमर में भजन करने लग जाय तो लोग हंसी मजाक में उड़ा देते है, दृढ़ संस्कार न होने से विचारा छोड़ देता है । इन झगड़ो के कारण वहुतों को ईश्वर भजन करने की फुरसत ही नहीं होती । वाल्यावस्था आरंभ की अवस्था होने से जिस तरफ लग जाती है, उसी तरफ के संस्कार दृढ़ हो जाते है । ऐसी उत्तम अवस्था में ईश्वर का भाव जमने न देना या जमने का संयोग प्राप्त न होने देना, कितनी शोक की बात है ! वाल्यावस्था में ही जिसके ईश्वर भाव के

संस्कार न पड़ें भला, वह बड़ा होकर अथवा बुढ़ापे में क्या करेगा ? सूखी हांडी–पकी हुई बुद्धि मुड़ती थोड़ी ही है ? और किसी ने कुछ कर भी लिया तो संपूर्ण भी नहीं होता।

एक कृषिकार था। कृषिकार देहाती होने से विशेष बुद्धि वाले कम होते हैं। खेती करना, खाना, पीना इसके सिवाय अन्य कार्य न होने से विशेष बुद्धि नहीं होती ! कृषीकार की स्त्री भी उसीके समान भोली भाली थी, घर का काम काज करते के सिवाय दुनियां किस कोने में बसती है, इसका भी उसे ज्ञान न था। उसका एक लड़का था, वह बारह वर्ष का होगया था, वह भी मोटी बुद्धि का था' खेल कूद में ही अपने दिनका बहुतसा हिस्सा निकालता था। एक दिन एक एक नया मनुष्य उस ग्राम में आकर उसके पड़ोस में बसा। उसके दो लड़के थे। एक दश वर्ष का और दूसरा आठ वर्ष का था। वे दोनों पुस्तक पढ़ रहे थे। कृषिकार की स्त्री ने उन दोनों लड़कों को पढ़ते हुये देखा। पुस्तक में अच्छी २ कहानियां पढ़ते हुये देखकर किसान की स्त्री प्रसन्न हुई और जीमें सोचने लगी "मेरा लल्लू भी पढ़ जाय तो कैसी अच्छी बात हो ! ये लड़के तो उससे छोटे हैं ! कैसा पढ़ते हैं !" घर में आकर उसने अपने लड़के से कहा "लल्लू ! हमारे पड़ोसमें जो नया मनुष्य आकर रहा है उसके दो लड़के तुझसे छोटे हैं वे किताब खूब पढ़ते हैं, कैसी अच्छी २ कहानियां लिखी हैं, तू भी पढ़ता होता, मदरसे में पढ़ने जाता होता तो मैं तुझे पढ़ता आ देखकर बहुत खुशी होती ! मदरसा कुछ दूर भी नहीं है,

आध कोस है! लल्लू, तू कब से मदरसे जाकर पढ़ने लगेगा?" लड़का बोला "हां! हां! पढ़ तो लूं पर वखत तो होय! मुझे फुरसत ही कहां है? सवेरे से संझा तक मुझे पढ़ने का समय कहां है? देख! सवेरे से संझा तक अपने सब समय को गिनाता हूँ; सवेरे आठ बजे तो खाट पर से उठता हूँ! आठ बजे से पहिले मुझसे उठा ही नहीं जाता! मैं बच्चा हूँ इसलिये मुझे नींद बहुत आती है! उठकर आधा घंटा तो दांतन कुल्ला में जाता है! दांतन कुल्ला न करूं तो तू चिड़ पुकार करती है! फिर कलेवा करने बैठता हूँ, उसमें भी खासा आधा घन्टा लग जाता है! नौ बज गये, अब गैया, बैल, भैंसों को पानी पिलाने जाता हूँ! उनके बांधने, छोड़ने, जाने आने में पूरा घन्टा भर लग जाता है। बजे दस। अब दो घन्टे मेरे खेलने के हैं, सब लड़के खेलते हैं, उनके साथ मैं भी खेलता हूँ! मैं खेलूंगा नहीं तो बीमार पड़ जाऊंगा! बजे बारह, अब रोटी खाने का समय हुआ। रोटी खा कर हुक्का तमाखू पीता हूँ, पीछे दो घन्टे सोता हूँ! इनमें से किसी में भी समय नहीं निकल सकता! बजे तीन, सब लड़के तैयार होकर खेलने को आजाते हैं और मुझे खेलनेको ले जाते हैं। बज गये पांच, फिर मैं ढोरों को पानी पिलाने ले जाता हूँ। बजे छः, तुरन्त ही ब्यालू करता हूं और हुक्का तमाखू पीकर सात बजे सो जाता हूं। तू मुझसे पढ़ने को कहती है! बता! कौनसे वखत पढ़ूं? मैं भी जानता हूँ कि पढ़ जाऊं तो अच्छा ही है! पर पढ़ तो कैसे पढ़ूं? किस समय पढ़ूं? इसमेंसे कौनसा काम न करूं?

क्या खाऊं नहीं ? सोऊं नहीं ? खेलूं नहीं ? क्या ढोरों को पानी न पिलाऊं ?" सुनने वालीकी बुद्धि जड़ थी ! लल्लूने सब हिसाब ठीक २ बता दिया ! कहने लगी "हां ! ठीक है ! लल्लू को फुरसत ही कहां है, अभी बच्चा है, खेलेगा अवश्य !" लड़के के हिसाब से संतुष्ट होकर फिर उसने कभी लड़के से पढ़ने जाने को न कहा ! जिस प्रकार इस लड़के ने अपनी दिनचर्या का वर्णन किया उसी प्रकार बाल्यावस्था भजन किये बिना चली जाती है ! भजन करने की फुरसत ही नहीं मिलती ! भजन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसके बिना किसी का काम रुक जाय, भजन तो फुरसत के समय में करने का है। इस प्रकार समझने वाले और ऐसी शिक्षा देने वाले बहुत होने से बाल्यावस्था खेल कूद में, और कुछ पढ़ने में तथा जगत् के धन्धों में चली जाती है, भजन नहीं होता। अबोधवस्था में भजन हो नहीं सकता और कुछ बोध होने के बाद खेल कूदका भूत सवार होजाता है।

बाल्यावस्थासे तरुण अवस्था आते ही अनेक प्रकारके भोगों की कामनायें सामने आकर खड़ी होजाती हैं। धन प्राप्त करने की इच्छा बढ़ती है क्योंकि धन करके ही सब भोग भोगे जाते हैं ! धन से भी बलिष्ठ कामना सुन्दर स्त्री प्राप्त करने की होती है। यह कामना सबको स्वाभाविक होती है। तरुण होने के प्रथम ही यदि माता पिता स्त्री की बेड़ी में डालते हैं, तो स्त्री बड़ी होकर घर पर आने की इच्छा होती है। यदि माता पिता विवाह नहीं करते तो 'मेरा विवाह नहीं हुआ, अमुक अमुक मेरे साथियों का विवाह हो

गया है' ऐसा विचार कर दुःखी होता है और विवाह होने के निमित्त माता पिता और अन्य कुटुम्बियों पर जोर डालता है। यदि धन की कमी होने के कारण विवाह होता नहीं दीखता, तो अधर्म से भी धन लाने में नहीं चूकता। यदि कोई कर्ज देने वाला मिल जाता है तो कर्ज के दुःख को भी भूल कर शादी करने का यत्न करता है। घर, जमीन, जागीर को बेचकर अथवा गिरवी रखकर भी शादी कर लेता है। विवाहके प्रसंगमें खाने, पीने, नाच तमाशे में आनन्द मानता है। शादी न हुई तो दुःख! और हुई तो भी दुःख! गृहस्थाश्रममें कितना कष्ट और उपाधि है, यदि विचार करें, तो सब ही इस बातको जान सकते हैं। यदि कोई गृहस्थीके दुःखकी गिनती करना चाहे तो हो ही नहीं सक्ती। कुटुम्ब के भरण पोषणके लिये कमाई करनी पड़ती है। कमाई थोड़ी हो और खर्च विशेष हो तो चिंताकी अग्नि रात्रि-दिन जलाया करता है। आया गया खर्च अवश्य करना पड़ता है। स्त्री की कामनायें पूर्ण करनी पड़ती हैं। जो जो स्त्री कहती है सब करना पड़ता है। स्त्री की कामना पूर्ण न हो तो बाघिनी के समान घुर्राती है। ऐसे में एक दो लड़के होजांय तो कमाने वाले की आफत! जिसके पास धन होता है उसे भी लड़कों से विशेष करके कष्ट ही उठाना पड़ता है। कोई बीमार है, किसी को पढ़ाना, किसी का यज्ञोपवीत कराना, इत्यादि में ही फंसा रहता है। रात्रि-दिन खान-पान प्रिया के प्रेम और बच्चों की तोतरी वाणी में प्रसन्न होता है। कुटुम्ब विशेष हो तो यह लड़का मेरा, यह धन मेरा, यह उसका, ऐसी राग द्वेषकी

वृद्धि होती है। बड़े बूढ़े कुछ कहे सुने तो स्त्रीसे सहन नहीं होती, स्त्री पुरुषसे कहती है और पुरुषको बड़े बूढ़े बुरे लगते हैं! कोई सुशील होता है तो माता पितासे कुछ नहीं कहता, जीमें जला करता है और कोई दुष्ट होता है तो माता पिता आदिको गालियां देने लगता है। कोई माताको त्यागकर स्त्रीको लेकर अलग हो जाता है। किसीके पास धन विशेष होता है तो धनका मद करके तरुण अवस्थामें विवाहिता स्त्रीसे सन्तुष्ट नहीं होता, अन्य स्त्रियोंको ताकता रहता है और अपने चरित्रसे भ्रष्ट होता है। इस प्रकार अनेक अधर्मका स्थान रूप युवावस्था रूप गधा पच्ची-सीमें निर्दोष रहना महा कठिन है। धन रहित भी अपनी स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहता हो, ऐसा भी नहीं है। बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली युवावस्था आने पर जो उसे निर्दोष निकाल दे वह भाग्यशाली है! इस प्रकारकी उस महा उन्मत्त अवस्थामें ईश्वरका भजन किसको सूझता है। बाल्यावस्थाके समान यह भी झगड़ोंमें व्यतीत हो जाती है!

इसके बाद तीससे पचास वर्ष तककी जो अवस्था है उसमें परिवार बढ़ जानेसे दुःख ही होता है। प्रथम एककी चिंता थी, स्त्री आनेसे दोकी चिंता हुई, अब सब कुटुम्बकी चिंताकी गठरी शिर पर धर कर बोझों मरना पड़ता है। कोई मरते हैं, उनके शोकसे दुःखी होता है तो किसीके विरहसे व्याकुल होता है। इसके हाथ पैर कुटुम्बके जालमें इस प्रकार बंध जाते हैं कि स्वेच्छानु-सार चल फिर भी नहीं सकता। कुटुम्बके लिये अनेक इच्छायें

करनी पड़ती हैं, उनमें से बहुतसी निष्फल जाती हैं। गुमाये हुये धन और परिश्रमका पश्चात्ताप होता है लोक लाज, जाति बन्धन, कुलकी रीति आदिके अनुसार काम करना पड़ता है। हानि होनेसे कभी दुःखी होता है, कभी कुछ लाभ होनेसे थोड़ी देरके लिये प्रसन्न हो जाता है। संसारकी धुरीका वहन करते २ बूढ़ा हो जाता है। इस अवस्थामें ईश्वर भजन नहीं होता, ईश्वर भजन के लिये फुरसत ही नहीं मिलती! कभी कभी ईश्वर भजन करता है तो ईश्वरकी प्रसन्नताके निमित्त नहीं करता, लड़का होनेके लिये धनको प्राप्तिके निमित्त अथवा मुकद्दमा जीतनेके लिये भजन करता है। भजनमें प्रपंचका सहारा होता है, सहारा रखते हुए भी ईश्वर भजनमें एकाग्र नहीं होता। अनेक प्रकारकी कामनायें एकाग्र होने नहीं देती। कुटुम्बका जाल बढ़ जानेसे बाहरसे अथवा आंतरिक संस्कारोंसे कुटुम्बी ईश्वर भजन नहीं करने देते! हाय! इस दशामें ज्ञान प्राप्तिके निमित्त ईश्वर भजन किससे हो?

इस प्रकार तीस, चालीस, पचास वर्ष तक पहुंच जाता है तबसे बुद्धि और इन्द्रियोंकी शक्ति घटने लगती है, शरीर शिथिल होने लगता है और ज्यों ज्यों उमर बढती है त्यों त्यों आसक्ति, चिन्ता और दुःख बढ़ता ही जाता है। प्रथम तो पचास वर्षपर बहुत कम मनुष्य पहुंचते हैं, कभी कोई पहुंच भी गया तो वहां भी फुरसत कहां? ज्यों ज्यों शरीर शिथिल होता जाता है त्यों त्यों मन विशेष चंचल होता जाता है, बुद्धि बिगड़ती जाती है। भोगे हुये सब संसारका चित्र उसके सामनेसे हटता नहीं है।

सत्तर अस्सी वर्षकी अवस्था में बिस्तर में पड़ा रहना पड़ता है। किसी भाग्यशाली के सिवाय इस अवस्थामें सबको कुटुम्बी तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। पुत्रादि उसकी सेवा चाकरी दिलसे नहीं करते। कोई काम किया तो बड़बड़ाते हुए कर दिया, नहीं तो कुछ नहीं! यह ही कहावत होती है:—

दोहा—दांत गिरे अरु खुर घिसे, पीठ बोझ नहिं लेय।
ऐसे बूढ़े बैलको, कौन बांध भुस देय॥

जिस प्रजा के ऊपर इसने बड़ी बड़ी आशायें बांध रक्खी थीं उस प्रजाको तिरस्कार करते हुये और अपनी आशाओंको निष्फल जाते हुये देखकर वह रात्रि-दिन चिन्ता के मारे जलता रहता है, अपनी पूर्व अवस्था का स्मरण करके दुःखी होता रहता है। अशक्ति के कारण जब उठना बैठना ही कठिन होजाय तो कार्य तो हो ही कहांसे! पराधीनतामें रोटीका टुकड़ा बिना प्रेम खाना पड़ता है! दिल से बहुत चाहता है कि इस सत्कार-रहित टुकड़े को न खाऊं, परन्तु शरीर वृद्धि से अशक्त होजाने के कारण कुछ वश नहीं चलता, खाना ही पड़ता है। नींदमें चिंता दब जाती है, परन्तु हाय! इस अवस्था में नींद भी महंगी होजाती है! वृद्धावस्था में दुःख पाते हुये बहुधा मनुष्यों को देखा ही होगा! भला, ऐसी अवस्था में ईश्वर भजन किस प्रकार हो? शांति बिना ईश्वर भजन नहीं होता। बुढ़ापे में शांति कहां? इस प्रकार बुढ़ापा भी व्यर्थ ही जाता है! ऐसे ही मरणके समय में भी भजन नहीं होता। इस समय तो शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की चिन्ता

होती है। और शरीर की महान् पीड़ा में ईश्वर का नाम किस प्रकार याद आवे ? ईश्वर तो अकेला है, एकांत में है, ऐसा हुये विना उसका नाम लिया ही नहीं जाता।

इस प्रकार तीनों अवस्थायें ही अनेक प्रकार के विकारों से भरी हुई है। लाखों, करोड़ों मनुष्य शरीर की इन अवस्थाओं के साथ एकभाव-वाले होकर जब तक शरीर का नाश हो तब तक ईश्वर का भजन नहीं करते। प्रथम तो यह नियम ही नहीं है कि ये तीनों अवस्थायें सबको प्राप्त ही हों, कितने ही तो जनमते ही मर जाते हैं, कितने चार छः मास अथवा वर्ष के होकर मर जाते हैं, कितनेक पांच, दस, पन्द्रह अथवा वीस वर्षकी उमर में मृत्यु के शरण होते हैं, कितनेक पच्चीस तीस वर्ष तक जीते हैं। इस प्रकार अमुक वर्षमें मृत्यु हो, यह कोई नियम नहीं है। स्थूल शरीर जब से उत्पन्न हुआ है तबसे मृत्युके मुखमें ही है, इसलिये बुद्धि प्राप्त होते ही व्यवहारमें फँस जाना और ईश्वरको भूल जाना इसके समान संसार में कोई भारी भूल नहीं है।

बुद्धिकी वृद्धिके साथ संसारमें प्रवृत्त होनेकी जितनी आवश्यकता मालूम होती है, यदि उतनी ही अथवा उससे विशेष आवश्यकता समझकर ईश्वर भजन में लग जाय तो अवश्य कल्याण होता है। व्यवहार की प्रवृत्ति व्यवहार में तब तक ही काम देती है, जब तक शरीर है; और ईश्वर की तरफ की प्रवृत्ति शरीर न होते हुये भी काम देनेवाली है, इसलिये जबसे बुद्धि और इन्द्रियां विकसित हों तबसे ईश्वर भजन में लगना चाहिये। यह अनुकूल

समय चले जानेके बाद कुछ हो नहीं सकता। जब संसारका काम ही बुढ़ापे में नहीं हो सकता तब अनन्त फलदाता, ईश्वर भजन का महान् कार्य बुढ़ापे में किस प्रकार होगा? यदि ईश्वर भजन करना हो तो जबसे बुद्धि चेतन हो तब से ही करना चाहिये। बाल्यावस्था के समान बुढ़ापा भी एक प्रकार की मूढ़ अवस्था है, बाल्यावस्थामें बुद्धि खिली हुई नहीं होती और बुढ़ापेमें बुद्धि क्षीण होजाती है। कहते भी हैं:—

"किया सो काम, भजा सो राम!"

इस प्रकार सब अवास्थायें व्यर्थ चली जाती हैं। परब्रह्म से कोई संबंध नहीं जोड़ता। व्यवहार से भी परब्रह्म को तुच्छ समझ रक्खा है। जो सज्जन हैं वे अपनी अवस्थाओं को इस प्रकार न खोकर परब्रह्म को जानने का प्रयत्न करते हैं। व्यावहारिक सुख प्राप्ति के निमित्त बुद्धि जितनी दौड़ती है, यदि उतनी ही बुद्धि योग्य साधनोंके सहित परब्रह्मकी तरफ लगाई जाय तो परब्रह्म कुछ दूर नहीं है। स्वयं प्रकाश परब्रह्म हमारे अत्यन्त समीप है, अपना ही स्वरूप है। जो परम व्यापक हो, उसे परब्रह्म कहते हैं। अनेकता में भी एक रहा हुआ है, वह परब्रह्म है। जो सबको चेष्टित करता है और स्वयं चेष्टा-रहित है वह परब्रह्म है। विकारों को छोड़कर प्रत्येक के आत्मरूप से परब्रह्म ही विराजमान है। यदि ब्रह्माण्ड-भर में परब्रह्म की खोज कीजाय तो भी मिलने वाला नहीं है। अपने हृदय में ही ढूंढ़ने से परब्रह्म का पता लगता है। यद्यपि परब्रह्म सर्वव्यापक है तो भी इसका

विशेष प्रकाश, जिसे चिदाभास कहते हैं, अन्तःकरण में है। हमारी सब चेष्टा चिदाभास से होती है। सर्वव्यापक परब्रह्म के विशेष प्रकाशके हृदयमें होनेका कारण परब्रह्म नहीं है किन्तु अन्तःकरण है, अन्तःकरण सतोगुण का कार्य होनेसे निर्मल है, उस निर्मलतामें व्यापक परब्रह्म का विशेष प्रकाश पड़ता है। आतिशी शीशे को धूपमें रखनेसे सूर्यका निर्मल प्रकाश शीशेमें विशेषतासे पड़ता है। धूपके परमाणु एक स्थान पर संगठित होजाने से शीशेमेंसे दूर पर एक प्रकारका विन्दु पड़ता है, यह सूर्यका विशेष प्रकाश है, धूप सब स्थानों पर समान होते हुये और कांच पर भी समान पड़ते हुये विन्दुमें जैसे विशेषतासे है; इसी प्रकार सूर्य परब्रह्म है, आतिशी शीशा अन्तःकरण और दूर पर पड़ा हुआ जलाने वाला विन्दुरूप प्रकाश विशेष सामर्थ्यवाला चिदाभास है। हृदय में जो विशेष प्रकाश है उसको छोड़कर जिस सामान्य प्रकाश का वह विशेष प्रकाश हुआ है, उसको परब्रह्म जानो; इस प्रकार परब्रह्म का अनुभव हृदयमें होता है। परब्रह्मको जाने विना कष्टों की निवृत्ति नहीं होती, जन्म-मरणका चक्र नहीं छूटता और मनुष्य जन्म निष्फल जाता है। परब्रह्म देह धारियों के समान क्रिया करने वाला नहीं है, आकाश के समान वह कभी लेपायमान नहीं होता। एक ही देव सब भूतों में गुप्त और व्यापक होकर रहा हुआ है, वह ही आत्मा है। उपरोक्त कथन का यह भाव नहीं है कि व्यवहार की सब चेष्टायें एक साथ ही छोड़ दो, किन्तु यह भाव है कि व्यवहार के भावको सामान्य करते हुये

ईश्वर की तरफ के भाव की वृद्धि करो ईश्वर जानने से व्यवहार और परमार्थ दोनों ही सुधरते हैं, इसलिये व्यवहारमें फंस कर ईश्वर को भूल जाना न चाहिये।

एक शहर में एक ब्राह्मण कथा किया करता था। वह इस प्रकार से कथा कहता था कि प्रजा का मन रंजन हो और उपदेश भी हो। बालक, युवान और बूढ़े प्रति दिन कथा सुनने आते थे। उस ब्राह्मण की कथा की प्रशंसा इस प्रकार फैली कि दूर २ के ग्राम के लोग भी कथा सुनने आने लगे। ब्राह्मण कभी २ भविष्य की बात भी कथा में कह दिया करता था। कई व्यक्तियोंका भविष्य जो उसने बताया, वह ठीक निकला। ऐसा देख कर सब को विश्वास होने लगा। दिन पर दिन लोगों की श्रद्धा बढ़ती गई। कथा कहने वाले पण्डित जो कुछ कहते थे उसको सब मान्य करने लगे। यहां तक श्रद्धा बढ़ी कि पंडित जी के वाक्य को लोग ईश्वर के वाक्य समान मानने लगे। एक दिन पंडितजी ने कथा में कहा—"हे अमरलोक-वासियों ! तुमको अपना होश नहीं है ! तुम लोग अपना स्थान छोड़कर मृत्युलोक रूप ऊपर भूमि में क्यों रहते हो ? तुम बारम्बार मरने जीने का अनुभव क्यों करते हो ? तुम जिस स्थानके वासी हो, वहां मरना जीना नहीं है ! वहां किसी प्रकारका दुःख नहीं है ! आनन्द ही आनन्द है अब भी चेतजाओ ! अपने स्वदेश में पहुंच जाओ ! वहां गये बिना तुमको पूर्ण सुखकी प्राप्ति कभी न होगी !" कथा श्रवण करनेवालों में एक मनुष्य जो सभ्य समझा जाता था,

हाथ जोड़कर पूछने की आज्ञा मांग कर बोला—"महाराज ! आप का वाक्य एक भी असत्य नहीं हुआ ! आपका यह कहना भी सत्य ही होगा ! परन्तु कृपा कर साथ २ यह भी कहिये कि हम लोग स्वदेश में किस प्रकार पहुँच सकते हैं ? स्वदेश में पहुँचने के लिये हमको क्या प्रयत्न करना चाहिये।" पंडित जी बोले—हां ! यह भी सुनाता हूँ। भाविक लोगो, श्रद्धा ही मुख्य वस्तु है श्रद्धा बिना कोई भी स्वदेश के मार्ग को पकड़ नहीं सकता। तुम लोग इस चद्र भूमि को छोड़ो ! इस स्थान से निकल कर राज-मार्ग में चलो ! वहां से कर्म भूमि नाम का देश आवेगा, उस देश में अनेक प्रकार के सच्चे और झूठे रत्न हैं ! वहां अनेक प्रकार के खेलने के पदार्थ हैं ! अनेक प्रकार के आभूषणों से सजी हुई रम-णियां हैं ! उनमें कोई २ डायिन भी है ! उन सबसे बचना और झूठे रत्न जो कांचके टुकड़े और शोभा वाले हैं, उन्हें ग्रहण न करना, सच्चे रत्नों को ग्रहण करना ! जब सच्चे पांच रत्न कोई इकट्ठे करले तब वहां से आगे चले, अमरपुर के फाटक में घुसे, पांचों रत्न दरवान को बखशीश दे दे, तब वहां का दरवान अमर-पुर में जाने देगा ! तुममेंसे जिनकी अमरपुर जानेकीइच्छा हो वे सुबह ही इस स्थानसे चल पड़े ! सब लोगों ने पंडितजी के वचनों को मान लिया, परन्तु सबको घर जमीन जागीर आदि छोड़कर जाना कठिन था, इसलिये कुछ ही मनुष्य निकले। उनमें बच्चे युवान और बूढ़े सब ही थे। जो बच्चे थे वे तो खेलने में लग गये। कहीं लखोटा, कहीं भौंरा, कहीं चकई, कहीं गुलीदंडा, कहीं गेंद

पड़ी हुई मिल जाती थीं, उनको देख कर वे दिन भर खेल में ही लगे रहने लगे। जो युवान थे वे आभूषणों से सुशोभित युवतियों को देख कह मोहित हो गये। उनकी प्रसन्नताके लिये विना दाम के गुलाम वन गये, रात्रि दिन उनके प्रेम में मग्न रहें, अन्य सुन्दरियां प्राप्त हों, ऐसा उपाय करने यगे, उनको प्रसन्न रखने के लिये अपने दिन व्यतीत करने लगे जो बूढ़े थे उनके पास अनेक डायनें पहुँच जाती थीं, बूढ़े भी डायिनों से लिपटे हुये रहने लगे। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं-वाले सच्चे रत्न जमा करना भूल गये। कोई रत्न जमा करने लगा तो झूठे रत्नोंकी चमक अधिक देखकर उनको ही जमा करने लगा। वहां के लोग झूठे रत्नों को ही रत्न समझते थे और आपस में उनका लेनदेन भी किया करते थे। किसी ने सच्चे रत्नों को जमा नहीं किया, न अमरपुर के दरवाजें पर देकर अमरपुर में प्रवेश किया। एक पंडितराज ही, जिन्होंने सबको उपदेश दिया था, उन पांच सच्चे रत्नों को जमा करके अमरपुर में जाने पाये। वहां की सुन्दरियों से जो प्रजा उत्पन्न होने लगी वह भी उसी व्यवहारमें अपनी सब अवस्थाओं को गमा रही है। इस प्रकार कर्मभूमि में आज भी वह प्रजा घूम रही है।

कथा कहने वाला पडित सद्गुरु—वेद है। उसने अमरपुर जाने का उपदेश दिया, जिन्होंने माना, वे तो अन्य योनियों को छोड़कर मनुष्य योनि में चलने लगे। मनुष्य होकर भी बाल्यावस्था खेल-कूद में युवावस्था तरुणियोंके प्रेम में खोने लगे और बूढ़ोंको

चिन्तारूप डायनों ने घेर लिया। अवस्थायें व्यर्थ जानेसे पांच रत्नों की प्राप्ति न हुई। सच्चे रत्न ये हैं:—शील, संतोष, दया, क्षमा, और बोध। झूठे रत्न पांच इन्द्रियों के विषय और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि हैं। लौकिक चांदी, सुवर्ण आदि कांचके टुकड़े हैं। अवस्थायें व्यर्थ गुमाने और झूठे रत्नों में फंस जाने के कारण संसार-चक्र से निवृत्ति नहीं होती। अमरपुर स्वदेश-परमपद है। जो कोई पंडित के समान सत्कर्म करने वाला होता है वह ही अपने आद्य स्वरूप को प्राप्त करता है, इसलिये कहा है कि ईश्वरका भजन कर, ईश्वर भजन ही अमरपुर जाने का मार्ग है।

अंगं गलितं पलितं मुण्डम्।
दशन-विहीनं जातं तुण्डम्॥
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्।
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥३॥भज०॥

अर्थः—अंग गल गया, शिर के बाल सफेद होगये, मुख दांत रहित—पोपला हो गया, वृद्ध हुआ, लाठी के सहारे चलता है, तो भी आशा के पिण्ड को नहीं छोड़ता।

अंग गला शिर श्वेत भया है।
दांत विना मुख बैठ गया है॥
वृद्ध हुआ लाठीगहि चालत।
तो भी आशा पिण्ड न त्यागत॥३॥भज०॥

अविद्या का प्रभाव इतना प्रवल हो रहा है कि रात्रि दिन सव कुछ देखते हुये भी अन्धे के समान वर्तांव कर रहे हैं। वाल्यावस्था में वुद्धि विशेष विकाशवाली नहीं होती, इस समय तो कर्तव्याकर्तव्य का विचार पूर्ण रूप से न होना वन सकता है परन्तु जव वुद्धि विकास को प्राप्त होती है, निर्णय करने की शक्ति आ जाती है, सारासार का विचार होता है, तव भी वुद्धि मोह में फंसकर जैसा देखती है, जानती है, समझती है, वैसा वर्तांव नहीं कर सकती, यह ही माया की विचित्रता है। यदि वाल्यावस्था की अविकसित, अपक्व वुद्धि ऐसी भूल करे तो उचित है, परन्तु आश्चर्य यह है कि पकी हुई वुद्धि भी उलटा वर्तांव करती है। प्रत्येक मनुष्य को जव कहीं जाना होता है तो जाने के स्थान की तरफ उसका लक्ष होता है, उधर की तरफ ही मुख होता है, जिस स्थान से चलता है उस स्थान से मुख फेर लेता है, तव ही मुकाम पर पहुँच सकता है। इससे विरुद्ध व्यवहार में फंसे हुये मनुष्य शरीर की किसी अवस्था में आगे के मार्ग की तरफ मुख नहीं करते, वर्तमान अथवा भूत के दृश्य को नहीं छोड़ते, भविष्य की तरफ उलटे पैरों से संसारी चलते २ गिर जांय, ठोकर खा जांय, पीछे के पदार्थ से कुचल जांय तो इसमें क्या आश्चर्य है? वुद्धि ज्यों २ वृद्ध हो त्यों २ शुद्ध होनी चाहिये, परन्तु जव शुद्ध होने के वदले मलिन होती जाय तो ऐसी मलिन वुद्धि से ईश्वर भजन कैसे हो? नहीं हो सकता। मनुष्य जन्मता है तव विकार की विशेषता वाला नहीं होता, क्योंकि भोग के सूक्ष्म संस्कार उसके अन्तः-

करण में ही होते हैं, ज्यों ज्यों वे संस्कार भोग में आते है त्यों त्यों स्थूल होते हैं। जगत् की हवा लगते ही बालक पांचों इन्द्रियों और मन में बाहर के भाव को भरने लगता है, धीरे २ पांचों विषय जगत् के भाव इन्द्रियों और मन में भर जाते हैं। जब बालक स्थूलता को प्राप्त होता है—बड़ा होता है, तब युवावस्था में इन्द्रियां और मन संपूर्ण विषयों का ग्रहण करने के योग्य हो जाते है। मनुष्य की जितनी चाल होती है, सब जगत् के भाव के भरने की ही होती है। मनुष्य जगत् के भाव को इस प्रकार भर डालता है कि उसके अन्तःकरण में ईश्वर का भाव और परलोक का भाव भरने ठहने को स्थान ही नहीं रहता। इन्द्रिय और अन्तःकरण इतना बहिर्मुख हो जाता है कि जगत् के भाव से तिल भर नहीं खिसकता। बाल्यावस्था आई चली गई, युवावस्था प्राप्त हुई वह भी चली गई, ऐसा होते हुये भी किसी को अपनी युवावस्था चले जाने का ख्याल नहीं होता। जिस प्रकार हवा पाल में भर कर नाव को इधर से उधर घुमाती है, इसी प्रकार पांच विषय रूप हवासे बलिष्ठ हुआ मन मनुष्य शरीर रूप उत्तम नाव को घुमा कर चूर कर डालता है। प्रति दिन सुबह होती है, दोपहरी होती है, शाम होती है, रात्रि होती है आयुष्य व्यतीत होता चला जाता है, इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य देखता है, जानता है समय पर मानता भी है, तो भी आश्चर्य यह है कि अविद्या के नशे में चकाचक होने से अपनी धुना-बुनी में ही लगा रहता है। वृद्ध हो जाता है तो भी चेतता नहीं। सब संसार को देखा, सबका अनुभव किया, सबके

साथ दुःख उठाया, अवस्था बदल गई, मरने का समय निकट आ गया, अब भी संसार की तरफ से मुख नहीं मोड़ता ! संसार इसको छोड़ता जाता है परन्तु वह संसार को नहीं छोड़ता, छोड़ना चाहता ही नहीं। मृत्यु के मुख में जाना है, ऐसा जानता है, तो भी मृत्यु की तरफ मुख करके सावधानी से नहीं चलता । हाय ! शोक ! हाय शोक ! वह जानता भी है कि मैं संसार से हट रहा हूँ, मृत्यु के मुख में जा रहा हूं तो भी इतना बे-खबर रहता है कि मृत्यु का स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता ! संसार में इस प्रकार निश्चिन्त होकर बैठता है मानों वह कभी संसार से जाने वाला नहीं है, हमेशा संसार में ही रहने वाला है ! संसार में इस प्रकार वर्तता है जैसे कि संसार उसके बड़ों को उपार्जित की हुई जागीर हो ! हाय ! इस प्रकार की बुद्धि से वर्तने वालों को कितना कष्ट होता है ? प्यारी वस्तुओं की इच्छा न होते हुये भी छोड़ना पड़ता है । छोड़ने में जो कष्ट होता है उसका अनुभव वह आप ही करेगा। अनुभव जब होगा तब होगा, हाल तो बिचारा भूल भुलैयां रूप संसार में घूम रहा है ! अनेक इच्छाओं के घोड़े दौड़ा रहा है ! अब तो मौज उड़ा लो, मौत जाने कब आवेगी, क्या खबर जब आवेगी तब देखा जायगा । ऐसे अबुद्ध अज्ञानी को क्या कहा जाय ? जो अपने शरीर का मूल्य ही नहीं समझता, ऐसे मूढ़ को कौन समझावे ? अनित्य ऐसे शरीर के सहारे नित्यता प्राप्त करने के संयोग को जो व्यर्थ गुमा दे, इससे बढ़कर अपना अहित करने वाला कौन होगा ? कोई नहीं !

एक समय एक बुढ़िया एक सन्त के पास पहुँची, वृद्धावस्थाके कारण बुढ़िया को नेत्रों से बहुत कम दीखता था। एक प्रकार से वह अन्धी ही थी, उस बुढ़िया के कई लड़के थे, उन लड़कों के भी कई लड़के लड़कियां थीं, इस प्रकार उसका एक बड़ा कुटुम्ब था। बहुत से घर जमीन, जागीर और पुष्कल धन था। बुढ़िया मरनेके समीप आचुकी थी तो भी उसका मोह निवृत्त नहीं हुआ था, सन्त के पास आकर उसने कहा—"महाराज, कोई ऐसा उपाय बताइये; जिससे मेरी बिगड़ी हुई आंखें ठीक हो जांय। अब मुझे कुछ सूझता ही नहीं है। जब बाल बच्चे मेरे पास आते हैं तो उन्हें मैं पहचान नहीं सकती।" सन्त बुढ़िया को उसकी स्थिति को और कुटुम्ब को जानते थे, मुसकरा कर कहने लगे—"माई, यह तो तुझे खबर है कि मैं दवा दारू नहीं करता। तू तो श्रीमान् है, किसी वैद्य, डाक्टर से दवा कराले।" बुढ़िया बोली—"महाराज, वैद्य हकीमों की दवा मैं कर चुकी हूँ; अब तो मेरी आँखें आपके आशीर्वाद से ही अच्छी होंगी। मैं आपके पास दवा लेने नहीं आई हूँ, दुआ लेने आई हूँ।" सन्तने कहा—"बुढ़िया, यह तू क्या कहती है? चार छः आने की दवा के बराबर ही तूने सन्तों की दुआ समझी है? इस सब झगड़े को छोड़ दे, ईश्वर का भजन कर। क्या तेरी बुद्धि भी बुड्ढी हो गई है?" बुढ़िया बोली "महाराज, आंख बिना ईश्वर भजन, देव दर्शन कैसे हो?" सन्त बोले—"ईश्वर भजन में आंखकी क्या आवश्यकता है? सब के भीतर ईश्वर विराजमान है, बिना

आंखे ही ईश्वर जाना जा सकता है, आखें न हों तोभी उसका भजन कर सकते हैं। तू तो कुटुम्ब के मोह में फंसी रही है, तुझे ईश्वर का प्रेम कहां है ? मरनेके समय कुटुम्बी तुझे कुछ भी सहायता नहीं पहुंचा सकते। ऐसा समझ कि ईश्वर ने तुझ पर उपकार किया है, आंखें छीननेमें ईश्वरका उपकार ही है ! तू कुटुम्बको देखना नहीं छोड़ती, कुटुम्बका देखना छुड़ानेके निमित्त, मोह करना बन्द करनेके निमित्त ही ईश्वरने तेरी आंखों से दीखना बन्द किया है। ईश्वरका यह मतलब है कि तू कुटुम्ब को देखना छोड़कर, तेरे शरीर के भीतर, जो ईश्वर विराजमान है, उस ईश्वरको तू देखने लगे, उसमें चित्त लगावे, उसका भजन करे। ईश्वरका भाव तू समझती नहीं है, ईश्वरने भजन करनेका योग दिया है, फिरभी तू मोहको नहीं छोड़ती बुढ़िया होगई है, अब तू दुनियामें कितने दिन रहेगी, समय भर गया है, अबभी जो बन सके, करले !" बुढ़ियाको सन्तके ऊपर विश्वास था, उसके शुभ संस्कार उदय हो आये थे, सन्त के वाक्य की उसके हृदयमें चोट लगी। चोट लगने से उसे कुछ चेत हुआ और वह जितना बन सका उतना कुटुम्बका मोह छोड़ कर ईश्वर भजन में लगी।

शरीर की सब अवस्थाओंमें वृद्धावस्था अत्यन्त दुःखरूप है अंग गल जाते हैं, मांस पिघल कर अंग पतले पड़जाते है, हड्डियां कड़ी हो जाती हैं शरीरकी शक्ति चली जाती है। आश्चर्य यह है कि ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर भी मनुष्य शरीर कुटुम्ब और

ऐश्वर्यकी आशाको नहीं छोड़ता कारण से कार्य का पता लगता है। इसी प्रकार शरीर का गलते जाना यह सूचना देता है कि शरीर अब विशेष समय तक रहने वाला नहीं है, क्षय का आरम्भ होने लगा है, पूर्ण क्षयको प्राप्त होगा ही। जगत्के कार्य करने को शरीर ना कर देता है, बुद्धि व्यवहारके योग्य नहीं रहती, तब भी मूढ़ मनुष्य समझता नहीं है। जो शरीर और मन जवाब दे चुके हैं उनसे ही कार्य लेना चाहता है, यह कितनी मूर्खता है ? अंग गलनेसे यह समझना चाहिये कि मेरे शरीर से जगत्के कार्य लेने की अब ईश्वर की मरजी नहीं है, अब तो जहां जाना है वहांकी तैयारी करनी चाहिये। मस्तक के श्वेत बाल यह सूचना देते हैं कि अब तक हम जो तुझको शोभा दे रहे थे, अब निस्तेज हो गये हैं। सफेद बाल खाकमें मिलने की सूचना देरहे हैं, शोक है कि मूढ़ मनुष्य सूचनाको जानते हुये भी मानते नहीं मुखके दांत गिर जानेसे मुख बैठ जाता है,दांतोंसे ही मुखकी शोभा है, दांतोंसे ही भोजन चबाया जाता है। दांत टूट जानेसें समझना चाहिये कि ईश्वर अब मेरे लिये इस संसारके भोजनको बन्द करने वाला है। दांत रहित मुख प्रेत समान बदसूरत दीखता है, सर्पके बिल समान होजाता है, ऐसी बदसूरती प्रेत होनेकी सूचना देती है। कुटुम्बमें अत्यासक्त मनुष्य इस सूचनाको भी नहीं मानते वाणी कुछ २ अस्पष्ट हो जाती है। जो मूर्ख इस सूचनाको भी नहीं समझता और ईश्वर की तरफ भाव नहीं करता, वह कष्ट ही उठाता है। वृद्ध होनेसे लाठीके

सहारे विना चला नहीं जाता, कमर झुक जाती है, तो भी मूढ़ मनुष्य ईश्वर की तरफ नहीं झुकता। उसका सीधापन चला जाना और भूमिकी तरफ झुक जाना क्या सूचना देता है, इसका वह विचार नहीं करता। भूमिकी तरफ झुक जाना यह ही सूचना दे रहा है कि अब मिट्टीमें मिलने की तैयारी है। लकड़ी दिखलाती है कि अब तो श्मशानमें लकड़ी से ही काम पड़ेगा! ये सब चिह्न देखते हुये भी जो मनुष्य आशाओं को नहीं छोड़ता, इसे पापी ही समझना चाहिये। इस प्रकार समझाते हुये आचार्य यह कहते हैं कि अब तो ईश्वर का भजन कर। आंखों के तारे बिनौले के समान होगये हैं, शरीर की चमड़ी छालके समान खोखली हुई है, पेट कन्दरा बना है, उभरी हुई नसोंसे व्याप्त गरदन पीपल के पत्तोंके समान कांपती है, वाघके गलेमेंसे निकले हुए 'घुर घुर' शब्दके समान कण्ठ बोलता है, पीठ कमान के समान झुक गई है, रुईके गाले के समान होगई है; मुट्ठी भरके चूतड़ बन गये हैं, पानीकी बूंद रूप मोतीसे विभूषित बहती हुई नाक है, सड़े हुये फोड़ेके समान दुर्गन्धि युक्त मुखकी वायु है, यह सब हालत होते हुये भी शरीरकी भयंकर स्थिति देखते हुये भी ईश्वरकी तरफ नहीं जाता? ये सब हालतें शोचनीय और दुःख रूप हैं, यह सब जगत्से मोह हटानेकी सूचना है। हाय! मोहमें पड़े हुये कुटुम्बके कीड़े ईश्वरकी इन सब सूचनाओं को कब सुनते हैं? इन सब सूचनाओंका अनादर करके नरक के कीड़े ही बनते हैं! शोक! महाशोक!! ... ...

सत्कर्म के योगसे मनुष्यका जन्म होता है। मनुष्य जन्म लेकर जीता है, शरीरकी अवस्था क्षण क्षणमें बदलती रहती है, बदलती हुई अवस्था सामान्यतासे दीखती नहीं है। कुछ समयके बाद मालूम होता है कि अवस्था बदल गई है। इसीलिये विद्वानों ने अवस्था के मुख्य तीन भेद किये हैं:—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था। बाल्यावस्था एक होते हुये भी उसके अन्तर-में तीन भेद हैं:—कुमार, पौगंड और किशोर। जन्मसे पांच वर्ष तक कुमारावस्था, पांच वर्षसे दश वर्ष तक पौगंडावस्था और दश वर्षसे पन्द्रह वर्ष तक किशोरावस्था कहलाती है। पन्द्रह वर्षके बाद युवावस्थाका आरम्भ होता है। युवावस्थामें शरीर के अवयवों और बुद्धिकी वृद्धि होती है, युवावस्थाके अन्तर भी दो अवस्थायें हैं:—बढ़ती हुई अवस्था युवा और बढ़कर स्थिरता वाली अवस्था मध्यम अथवा अधेड़ कहलाती है। अन्दाजसे ४० वर्षसे लेकर पचास वर्ष तककी अवस्था अधेड़ कही जाती है। उसके बाद वृद्धावस्थाका आरम्भ होता है। मरण पर्यन्त वृद्धावस्था ही कही जाती है। वृद्धावस्था भी दो प्रकार की है—एक सामान्य वृद्धावस्था और दूसरी अति वृद्धावस्था। जन्मसे युवावस्था पर्यन्त शरीर के अवयव बढ़ते रहते हैं, मध्यम अवस्था में धातु आदिक स्थिर के समान रहते हैं और वृद्धावस्थासे शरीर के अवयव और धातु आदिक क्षीण होते चले जाते हैं। किसी किसीको चालीस वर्षसे ही वृद्धावस्था आरम्भ होने लगती है। वृद्धावस्था में इन्द्रिय और मनकी शक्ति शिथिल होजाती है। मनुष्य सामर्थ्य-

हीन होजाता है, काम धंधा नहीं होता, चमड़ी सूख जाती है, झुर्रियां पड़ जाती हैं, इन्द्रियां अपना कार्य ठीक नहीं करतीं, ऊंचा सुनाई देता है, कम दिखाई पड़ता है, थोड़ा खाया जाता है, खाया हुआ पचता नहीं है, शरीर कांपता है, नाक बहने लगती है, आंखोंमें से कीचड़ निकला करता है, मुखमें से लार टपकती रहती है, शरीर दुर्गन्धि-युक्त होजाता है, मक्खियां शरीर और मुख पर भिनभिनाया करती हैं और बिस्तरमें पड़े पड़े दुःखसे दिन व्यतीत करना पड़ता है। यदि प्रथम न किया हो तो वृद्धावस्था में ईश्वर भजन नहीं होता। कुछ तो नहीं होता, पर खटिया में पड़ा पड़ा आशाओं के महल बनाया करता है। ऐसी अवस्था में भी मरना नहीं चाहता, आशायें छोड़ना नहीं चाहता। यह अज्ञान की प्रबलता है। किसीने सच कहा है:—"धनसे, जीवनसे, स्त्रीके सम्बन्धसे और खाने पीने आदिकसे कोई भी प्राणी तृप्त होकर नहीं गया, न कोई जाता है और आगे जायगा भी नहीं!" आशा करनेसे शांतिका नाश होता है, विवेक चला जाता है, इन्द्रियां वशमें नहीं रहतीं, मन स्थिर नहीं रहता, अनेक प्रकार दंभ, कपट हुआ करता है। ऐसी दुष्ट आशाको अपने समीप न आने देना चाहिये। आशा पिशाचिनी है। जैसे प्रेत-निवारणके लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रयत्न करके इस महा चुड़ैल को निवृत्त करना चाहिये। जिससे कभी भी सुख होना संभव नहीं है, जो सब अनर्थों का कारण है, अयोग्य कार्य करा-कर शोक उत्पन्न करती है, मनको ईश्वरमें जुड़ने नहीं देती, ऐसी

इस राक्षसी को अवश्य त्यागना चाहिये। जिसने बुद्धि-बल से, शास्त्र से, सत्संग से विचारसे, जगत् को अनित्य समझकर जगत् की आशायें छोड़ दी हैं, वह ही चतुर पुरुष संसार को जीत सकता है; और जो मूढ़ तृष्णा को नहीं छोड़ता वह लज्जा से, प्रतिष्ठासे, मानसे और सदाचारसे चलायमान होकर जीवन पर्यंत दुःख भोगता है और परलोक को भी बिगाड़ता है। अग्निसे जला हुआ मनुष्य तो कभी सुखी होता भी है, पर तृष्णासे जला हुआ कभी भी सुखी नहीं होता। कोई ऐसा कहते हैं कि आशा दुःखी मनुष्य का जीवन-आधार है, आशा छोड़ देनेसे तो जीवन ही नहीं रहेगा। ऐसोंसे कहना चाहिये कि यदि तुम आशाको ऐसा ही समझते हो तो सची आशा क्यों नहीं करते? सची आशा ही अकल्याण को रोकने वाली है। जगत् की निवृत्तिकी आशा ही सुखको देने वाली है। यदि दुःख देने वाली आशा करके जीता रहना हो तो ऐसे दुःखी जीवनमें फल ही क्या है? जगत् की अनेक प्रकारकी आशाको निकाल कर उनके स्थान में सन्तोष को बैठाना चाहिये। जितनी जिसको तृष्णा है उतना ही वह कंगाल है, यदि लाखों रुपये किसी के भण्डारमें भरे हों और उसके अन्तःकरण में तृष्णा लग रही हो तो वह कंगाल ही है! और जिसके पास कौड़ी भी न हो और उसके अन्तरमें सन्तोष हो तो वह श्रीमान् है।

देवता प्रसन्न होकर पुत्र दें, इस इच्छा से एक राजाने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, बहुत उत्सव किया और लाखों मनुष्यों को भोजन

कराया। इस यज्ञ से देवता प्रसन्न हुये और रात्रिको रानीके स्वप्नमें आकर एक ऋषिने कहा—"हे रानी! तुमको एक सुन्दर पुत्र प्राप्त होगा और वाक्‌सिद्ध होगा, जो जो वह बोलेगा अथवा जिसके होनेका विचार करेगा, वह ही हो जायगा!" सुबह रानीने स्वप्नकी बात राजाको सुनाई। राजा प्रसन्न हुआ। वाक्‌सिद्ध होनेकी बात जब रानी राजा से कह रही थी, तब एक रसोइयेने वह बात सुन ली। नव मास पूर्ण होनेके बाद रानीने एक सुन्दर पुत्रको जन्म दिया। राजधानीमें मिठाई बांटी गई और आनन्दोत्सव मनाया गया। राजकुमार दिन-दिन बढ़ने लगा। अन्नप्राशन कराया गया और सत्यचन्द्र नाम रक्खा गया। धीरे धीरे कुमार एक वर्ष का हुआ। एक दिन रानी कुमार को अपनी गोदी में लेकर अन्तःपुर के बगीचे में एक संगमरमर की चौकी पर बैठी थी, गर्मी के दिन थे, ताप बहुत पड़ रहा था, आलस्य आने से रानी शीतल पत्थर के ऊपर लेट गई और लेटते ही उसे नींद आ गई। रसोइये की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि योग्य समय प्राप्त होने पर राजकुमार को उठा ले जाऊं, वह इसी ताक में लगा रहता था कि कब मौका मिले, कब ले जाऊं। यह मौका देख कर रसोइया वहां आया और राजकुमार को ले जाकर एकांत स्थान में रख आया और एक हंस को मार कर उसका रक्त उसने पास की जमीन पर डाल दिया। थोड़ी देर में जब रानी जागी तो क्या देखती है कि राजकुमार नहीं है और पास ही कुछ रक्त पड़ा हुआ है! रानी घबरा

गई और सब से पूछने लगी कि "राजकुमार कहां है ?" रसोइये ने कहा—"राजकुमार की तो मुझे खबर ही नहीं है, परन्तु मैंने एक शेर आता हुआ अवश्य देखा था, यह रक्त भी पड़ा हुआ है, इससे मालूम होता है कि शेर राजकुमार को उठा ले गया, मैं बन्दूक-वालों को बुला कर लाया तो यहां शेर नहीं था !" कुमार के गुम हो जाने की खबर राजा के पास पहुंची । राजा वहां आ कर रानी पर बहुत क्रोधित हुआ और क्रोध के आवेश में उसने रानी को जंगल में निकाल दिया ।

रसोइया कुंवर को लेकर वहां से थोड़ी दूर पर एक बगीचे के पास जंगल में झोंपड़ी बना कर रहने लगा । थोड़े दिन बाद जब कुंवर बोलने लगा तब रसोइया, जिस जिस वस्तु की जरूरत होती, उसको कुंवर के मुख से बुलवाता । चाही हुई वस्तु किसी न किसी प्रकार से वहां आ जाती थी । एक दिन रसोइये ने कुमार से कहा—"हे सत्यचन्द्र ! हम ऐसी छोटी झोंपड़ी में रहते हैं, क्या तुझे किसी सुन्दर महल-वाले बगीचे में रहने की इच्छा नहीं है ?" सत्यचन्द्र ने कहा—"हां ! मुझे ऐसी ही इच्छा है !" तुरन्त ही पास के बगीचे वाला रसोइये को मिला और उसने दाम लेकर बगीचा रसोइये को बेच दिया । रसोइया सत्यचन्द्र को लेकर बगीचे वाले मकान में रहने लगा । इस समय सत्यचन्द्र की उमर आठ वर्ष की थी । रसोइये ने सत्यचन्द्र से कहा—"यहां तू अकेला रहता है, खेलता है, इसके बदले तेरी ही उमर की एक कुमारी तेरे साथ खेलने को तो हो कैसी ?" सत्यचन्द्र ने कहा—"हां ! एक

लड़की मेरे साथ खेलने को हो तो अच्छा है !" थोड़ी देर में बगीचेके मुख्य द्वार पर एक आठ वर्ष की लड़की रोती हुई दीख पड़ी। रसोइया उसको सत्यचन्द्र के पास ले आया। जब रोने का कारण पूछा गया तो लड़की ने कहा—"मैं अपनी मांके साथ आ रही थी, जंगल में से एक जानवर आ कर मेरी मांको उठा ले गया, इसलिये मैं रोती थी !" रसोइया बोला—"तू यहां खुशी से रह ! यह लड़का भी तेरी बराबर का है, उसके साथ खेल, खा पी, और आनन्द कर !" लड़की आनन्द से वहां रहने लगी। एक दिन रसोइये ने कहा—' हे सत्यचन्द्र ! हमारे पास सात मटके सुवर्णमुद्रा से भरे हुये और कई मटके जवाहरात के भरे हुये हों तो कैसा अच्छा हो !" सत्यचन्द्र ने कहा—"बहुत ही अच्छा हो !" उसी रात्रि को चोर कहीं से धन खोद कर मटकें ले जा रहे थे, पीछे दौड़ आई ! चोर सुवर्णमुद्रा और जवाहरात के मटके छोड़ कर भाग गये ! रसोइये ने सब धन अपने कब्जे में किया। इस प्रकार वह अत्यन्त धनाढ्य हो गया ! एक दिन उसने विचार किया—"सत्यचन्द्र से मुझे सब पदार्थ प्राप्त हुये हैं, अब वह बड़ा हो गया है, कहीं अपने माता पिता को जान गया तो मेरी जान पर आ बनेगी, मैं कुंवर को चुरा कर ले आया हूँ, यह बात प्रगट हो जायगी, राजा मुझको मरवा डालेगा, इसलिये अब कुंवर को मार देने में ही मेरा भला है !" ऐसा विचार रसोइये ने बालिका को एकांत में अपने पास बुला कर कहा—"छोरी ! यह छुरी ले, और आज किसी प्रकार से सत्यचन्द्र का शिर काट डाल !" लड़की का सत्यचन्द्र से

प्रेम हो गया था, छुरी लेकर वह उसके पास आई और सब बातें कह दी। सत्यचन्द्र बहुत क्रोधित हुआ और रसोइये को बुला कर कहने लगा—"हे दुष्ट ! तुमको किंचित् भी धर्मज्ञान नहीं है ! मुझसे ही तुमको सब ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ! तो भी तू मुझे मार डालना चाहता है ! तेरे समान कृतघ्न जगत् में कौन होगा ? तुमको उचित शिक्षा देनी चाहिये—तू पागल हो जा !" इतना कहते ही रसोइया पागल हो गया और बकने लगा। सत्यचन्द्र ने मनुष्यों को बुलवा कर उसे रस्सी से बंधवा दिया। पागलपने में उसने सब वृत्तांत कह दिया। सत्यचन्द्र को अपना पूर्व का हाल मालूम हुआ। इस समय उसकी उमर बारह वर्ष की थी। वह राजधानी में जाकर मुख्य मंत्री से मिला और अपना सब वृत्तांत कहा। मंत्री सत्यचन्द्र को राजसभा में ले गया और रसोइये को भी अपने मनुष्य भेजकर पकड़वा मंगाया। राज-सभा में मंत्री ने राजा से कहा—"महाराज ! बहुत दिनों से यह राज्य राज्ञी-शून्य है। आप रानी को बुला लें तो अच्छा है !" राजा बोला—"मेरे प्राण समान प्रिय कुंवर का रानी ने घात करा दिया है, उसे मैं किस प्रकार बुला सकता हूँ ?" उसी समय सत्यचन्द्र प्रणाम कर हाथ जोड़ बोला—पिताजी ! मैं आपका पुत्र हूँ, मुझे शेर ने नहीं खाया था, मेरी माता निर्दोष है। यह पागल बना हुआ आपका पूर्व रसोइया ही अपराध का भागी है ! यह मुझे चुराकर ले गया था !" यह कह कर सत्यचन्द्र ने अपना सब वृत्तांत सुनाया। राजा सुन कर विस्मय-विमुग्ध हुआ। रानी जंगल से बुलाई गई, रसो-

इया पागल खाने भेजा गया। पिता पुत्र मिल कर प्रसन्न हुये। इस बालिका से सत्यचन्द्र की शादी की गई।

आशा से नाश होने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। आशा क्षण क्षण में नाशरूप ही है! रसोइये ने रानी, राजा, पिता, पुत्र, माता पुत्र का वियोग कराया। जैसे जैसे आशा करता गया, वैसे वैसे फल मिलता गया! तो भी उसकी तृप्ति न हुई, अन्त में पागल होना पड़ा! ऐसी दुष्ट आशा है। जीव आशा के कारण मोह से जगत् रूप पागलखाने में पड़ा है। सत्यचन्द्र आत्मा है, उससे सब प्राप्त होता है, तो भी जीव उसे मारने की इच्छा करता है, अज्ञान से नाश करना चाहता है, परन्तु जब बालिका समान आत्म भाव की बुद्धि प्राप्त होती है, तो वह सब भेद खोल देती है। दुष्ट को दुष्ट कर्म की सजा मिलती है।

प्राप्ति की इच्छा आशा है और प्राप्त में वृद्धि होने की इच्छा का नाम तृष्णा है, परन्तु सामान्यता से आशाका एक ही अर्थ में उपयोग होता है। सूर्य-किरण से ऊपर भूमि में दीखते हुये झूठे जल के समान जगत् की आशा है। जैसे झूठे जल से शीतलता और तृषा निवारण नहीं होती, उसी प्रकार जगत् के पदार्थों से तृप्ति नहीं होती, शांति रूप शीतलता की प्राप्ति नहीं होती और न असंतोष-रूप तृषा जाती है। कोई मनुष्य किसी प्रकार थोड़ी देर भजन में बैठता है तो वहां भी अनेक प्रकार के लाभ की आशा किया करता है। आशा की अग्नि में से जलन और अपमान के सिवाय और क्या प्राप्त होगा? इस प्रकार आयुष्य व्यर्थ चली

जाती है, ईश्वर को जान लेने को आया हुआ अवसर निकल जाता है। बुद्धिमान् को चाहिये कि आशा की रस्सी से लिपट कर न रहे, प्राप्त हुये मनुष्य शरीर का सदुपयोग करे; पुण्य कर्म ईश्वर उपासना अथवा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करे। आयुष्य का कुछ भरोसा नहीं है, कोई भी अवस्था हो, जब से चेते तब से भजन करना आरम्भ करे। जो कुछ कर लिया जायगा, वह ही अपना है, दूसरे दिन तक जीते रहने की किसी को खबर नहीं है।

जिसने वृद्धावस्था का भरोसा न रख कर वर्तमान समय में ही शुभ कर्म और ईश्वर भजन कर लिया है, वह बुढ़ापे में और उसके बाद भी दुःखी नहीं होता। व्यवहार में कहते भी हैं:—"युवावस्था की कमाई और पिछली रात की पिसाई निपटती नहीं है।" जब व्यवहारिक कमाई का यह हाल है तो ईश्वर-भजन रूप कमाई को, बड़े होने के भरोसे अथवा बुढ़ापे में करेंगे, इस भाव से न करना पूर्ण मूर्खता है! विचार करके देखोगे तो बुढ़ापे में जो दुःख है वेही दुःख अन्य अवस्थाओं में भी हैं, केवल दुःखों का निमित्त भिन्न भिन्न होता है। भजन के सिवाय दुःख की निवृत्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी-जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे ॥४॥ भज०॥

अर्थः—वारम्वार जन्म लेना पड़ता है, वारम्वार मरना पड़ता है, और वारम्वार माताके उदर में सोना पड़ता है, इसलिये हे मुरारी प्रभो ! इस दुस्तर संसार से मेरा उद्धार करो, ऐसी प्रार्थना कर, गोविन्दका भजन कर ।

फिर फिर जन्म मरण पुनि होना ।
फिर फिर जननि-जठरमें सोना ॥
यह भव सागर दुस्तर भारी ।
कृपया करिये पार मुरारी ॥ ६ ॥भज०

शास्त्र और युक्ति-पूर्वक विचार कर देखा जाय तो जो अपना स्थूल शरीर दीखता है, उसके भीतर दो शरीर और हैं। स्थूल यानी पंचीकृत किये हुये पांच महाभूतों से बना है। स्थूल शरीर की उत्पत्ति और नाश देखनेमें आता है, उसके भीतर रहे हुये दो शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश देखनेमें नहीं आता। उन दोनों में से एक सुषुप्ति अवस्था वाला कारण शरीर है और दूसरा सूक्ष्म शरीर है, जो स्वप्नावस्था वाला कहा जाता है। ये दोनों शरीर अनादि अविद्याकृत हैं, इसलिये उनकी उत्पत्ति नहीं है; परन्तु जैसे अविद्या अनादि होने पर भी कल्पित है और विद्यासे नाशको प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार ये दोनों शरीर भी अनादि कल्पित होनेसे ज्ञानसे शांत होजाते हैं। ज्ञान बिना उनका नाश नहीं होता और स्थूल शरीर तो वारम्वार मरने वाला और जनमने वाला है। अविद्याकी निवृत्ति और तत्त्वकी प्राप्तिसे स्थूल शरीर का समूल नाश होजाता

है। उसका क्या तीनों का ही नाश होजाता है, क्योंकि स्थूल का सूक्ष्म सूक्ष्म-शरीर है और स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरोंका कारणरूप कारण शरीर है। स्थूल शरीर अविद्या-रचित होने परभी बारम्बार जन्मने और मरने वाला है, इसलिये जन्म मरण स्थूल शरीरका ही होता है। यह नियम है कि जो जनमता है वह अवश्य मरता है, जिस हालत में जनमता है, उसी हालत में मरता है। जन्म और मरणके बीचमें स्थितिरूप संसार जाति, व्यक्ति, कार्य, कारण सब ही हैं। जन्म होने में भी शास्त्रकारों ने चार मुख्य भेद बताये हैं, जिनको खानि कहते हैं:—जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज। इनमें पिछली तीन तिर्यक् योनि कहलाती है, उनको भवसागर तरने का उपाय करने का अधिकार नहीं है। जरायुज योनिमें भी मनुष्य योनिमें जन्म लेनेवाले की बुद्धि विशेष विकसित होती है, इसलिये मनुष्ययोनि में प्रयत्न-पूर्वक उपाय करने से संसार से तर जाना संभव है। जब जब जन्म होता है तब तब भिन्नभिन्न कर्मोंके अनुसार शरीरकी आकृति भिन्न होती है और आकृति और कर्मों के अनुसार ही अंतःकरणकी रचना होती है। अंतःकरण क्रमशः बढ़ता जाता है, और अन्तमें चेष्टा रहित होजाता है, चेष्टा रहित होजाने का नाम मरण है। जबतक सकाम कर्म किया जाय, जब तक वासनाका नाश न हो और जबतक स्वरूपका दृढ़ बोध न हो तबतक जन्म मरण होना बंद नहीं होता। मरने के बाद संसारमें तुरंत ही जन्म नहीं होता, किंतु बहुत समय तक माता के गर्भमें निवास करके अनेक प्रकारकी पीड़ाओं का अनुभव करना पड़ता

है। गर्भस्थान मंदा मलिन होता है, वहां अंधेरी कोठरीमें वास करना पड़ता है। प्रथम बुद्धि अति सूक्ष्म होती है, परन्तु शरीरके साथ बुद्धि भी बढ़ती जाती है और सूक्ष्ममें भान होनेसे दुःखका अनुभव करना ही पड़ता है। कोई कोई ऐसा कहते हैं कि जब गर्भमें दुःखका अनुभव होता है तो याद क्यों नहीं रहती? यह नास्तिकता का प्रश्न है, क्योंकि ऐसी बहुतसी बातें हैं, जो थोड़े समयको भी याद नहीं रहतीं, तो माताके गर्भरूप संसारकी बात बाह्य संसारमें याद न रहे तो कौनसा आश्चर्य है? बाहरकी वैष्णव वायु सबको भुला देनेमें समर्थ है, यदि कोई संस्कारी योगबलसे याद रखना चाहे तो रख भी सकता है। जैसे घटमाल के बंधे हुये अनेक घट कुएमें भरते हैं और ऊपर आकर खाली होते हैं, फिर नीचे जाकर भरते हैं, इसी प्रकार अज्ञानके कारणसे कर्मरूप जल भरता और खाली होता रहता है। उसको ही जन्म मरणका चक्र कहते हैं। वास्तविक जीवतत्त्वको जन्म मरण नहीं है, उपाधिके योगसे उपाधिका जन्म-मरण है, ऐसा समझा जाता है। जनमना, मरना और वारम्वार माताके गर्भ में आना, इसीका नाम 'संसार' है।

एक मनुष्य पहाड़ोंमें घूम रहा था। वह सत्संगी और साधु सन्तोंका प्रेमी था। घूमते हुये उसे एक पहाड़के ऊपर रात्रिके समय दूरसे जलती हुई अग्नि दिखाई दी। इससे उसने निश्चय किया कि वहां कोई संत अवश्य रहता होगा। जंगलोंमें अग्नि लगती है; परन्तु यह स्वाभाविक अग्नि नहीं है। दूसरे दिन उसने

आस-पासके ग्रामवालोंसे पूछा तो किसीने कुछ और किसीने कुछ कहा। एकने कहा—"कभी कभी हम इस प्रकार अग्नि देखते हैं!" दूसरेने कहा-"यह अग्नि नहीं है! कोई बवाल होगा!" तीसरेने कहा—"वहां साधु लोग रहते हैं, हम खोज भी कर चुके हैं परंतु कोई मिला नहीं।" मेरा एक मित्र कहता था कि-"वहां एक साधु रहता है, एक वार यकायक मुझे मिल भी गया था, इस पहाड़ पर जानेका मार्ग नहीं है; वहां कोई जाता नहीं, मार्ग विकट है, साधु रहता अवश्य है, कभी नीचे भी उतर आता है।" मनुष्यने कहा-"भाई! मैं वहां जाना चाहता हूं, जानकी भी परवाह न करके मैं पहाड़ पर अवश्य जाऊंगा! आप मुझे मार्ग दिखलाइये!" मार्ग था ही नहीं, उस मनुष्यने मात्र दिशा दिखला दी। वह मनुष्य पहाड़ पर चढ़ने लगा। संतसे मिलनेकी उसकी तीव्र इच्छा थी, वारम्बार पैरों में कंकड़ और कांटे लगे, लोहू भी निकला, कभी किसी पत्थरका घिस्सा भी लगा, ऐसे कष्ट सहते हुये वह ऊपर ही चढ़ता गया। चलते २ मार्ग रुक गया, सामने एक बड़ी खाई आई, वहांसे आगे जाना कठिन था। वह मनुष्य कभी इधर कभी उधरको लौटता हुआ, चक्कर खाता हुआ, ऊपर चढ़ने लगा। केवल दिशा ही उसका मार्गदर्शक यंत्र था। कई सिंह, व्याघ्र और जंगली हाथी भी देखनेमें आये, वह किसीसे घबराया नहीं! जो जान पर आया हुआ हो वह किसी से घबराये? शाम होते ही वह ऊपर पहुंच गया, भूख और परिश्रमसे थक गया था, मार्गमें जल ही पीनेको मिला था। जब धूनीके स्थान पर पहुंचा तो क्या

देखता है कि वहां जली हुई धूनीके सिवा और कुछ नहीं है ! पेड़ और पहाड़के सिवा ऊपर कुछ दीखता नहीं था। पास ही एक पानीका झरना था। झरनेके पास उसे कोई दिखाई न दिया, इसलिये बहुत ही निराश हुआ। हाय ! अब वह नीचे भी नहीं जा सकता था ! भूख और थकावट से बेहोश होकर वहां ही पड़ गया। थोड़ी रात्रि जाने पर एक साधु हाथमें कमडलु लिये हुये झरनेसे पानी भरने आया। झरनेके पास पड़े हुये मनुष्य को देखकर वह आश्चर्य करने लगा—"यहां रात्रिके समयमें मनुष्य कैसा !" साधुनें उसे जगा कर कहा—"तू यहां कैसे आया ? यह जंगल है, यहां जानवरोंका भय है; चल, उठ ! रात्रि भरके लिये तुझे स्थान दिखा दूं !" मनुष्य चौंक कर उठा और साधुको देख, साधुने ही मुझे जगाया है और रात्रिको ठहरनेको स्थान बतानेकी कृपा कर रहा है, ऐसा जानकर वह अति प्रसन्न हुआ और साधु के दर्शनसे अपने परिश्रमको सफल हुआ देख साधुके चरणों पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद उठकर साधुके पीछे पीछे चल दिया। साधु एक पहाड़की आड़में गया, वहांसे दूसरे पत्थरकी आड़में हो कर, पहाड़की एक गुफामें पहुँचा। मनुष्य भी वहां पहुँच गया। साधु एक आसन पर बैठ गया और मनुष्यको सामने बैठनेकी आज्ञा दी। जब मनुष्य बैठ गया तब साधुने वहां आनेका कारण पूछा और किस प्रकार आना हुआ, यह भी पूछा। मनुष्यने कहा—"कृपानिधान ! मुझे साधु-सन्तोंसे प्रेम है, गई रात्रिको मैंने पहाड़ पर अग्नि जलती हुई देखी थी, लोगोंसे पूछा तो कुछ ठीक

पता न चला। जान पर खेलकर अनेक कष्ट पाता हुआ आपके दर्शनका लाभ प्राप्त करनेको यहां चला आया हूँ। मेरा परिश्रम किसी भौतिक इच्छाके निमित्त नहीं है! आप हम लोगोंसे क्यों छुपते हो? आप महात्मा हो, आपके लिये ऐसा विकट स्थान क्यों होना चाहिये?" साधुने मुसकराकर कहा—"तूने शास्त्र पढ़े होंगे, संतोंका संग किया होगा, इससे तू ऐसा जानता है कि महात्माओंके लिये सब स्थान एकसे हैं, परन्तु मैं ऐसा महात्मा नहीं हूँ। मैं संसारियोंसे डरा हुआ हूँ, मैंने संसारियोंके संगसे बहुत दुःख पाया है, मैं संसारको देखना तो क्या, उसका ख्याल करना भी नहीं चाहता! मैं पूर्ण नहीं हूँ, यदि तू मुझको अपूर्ण समझे तो मुझे इसकी चिंता नहीं है, मेरा जैसा भाव है, वैसा ही मैंने तुझसे स्पष्ट कहा है। तुझे रात्रि होगई थी, जंगल भयानक था, मनुष्यको मनुष्य पर दया करनी चाहिये, ऐसा सोचकर मैं तुझे यहां ले आया हूँ!" मनुष्य बोला—महाराज! आपको संसार और संसारियोंपर इतना तिरस्कार क्यों हुआ? हम हमेशा ऐसा सुनते हैं कि वैराग्य करना चाहिये परन्तु वैराग्य पर हमारा दृढ़ भाव नहीं होता! यदि आपकी कुछ हानि न हो तो बताइये कि आपको इस प्रकार तिरस्कार होनेका क्या कारण हुआ है? मैं आपका शिष्य हूँ, आपके वचनोंसे मेरा अज्ञान-रूप परदा हट जायगा, मैं दीन हूं! संसारने मुझको दीन कर डाला है, किसी स्थान पर मैं शांति नहीं देखता। फिर भी हाय! संसारको नहीं छोड़ता!!

साधु बोला—यदि तेरा आग्रह ही है तो मैं अपना वृत्तान्त

तुझसे कहता हूँ, सुन—एक समय मैं एक बड़े शहरमें रहता था, मेरे पास धन और जन पुष्कल थे, प्रतिष्ठा भी पर्याप्त थी। एक समय यकायक बड़ी भारी आंधी चली, अंधेरा गुप होगया, कुछ दिखाई नहीं देता था, हवाके झपाटेसे मैं अपने स्थानसे उठा, मेरा माल, मिलकियत, स्त्री, पुत्र, मकान सब कुछ वहां ही रह गया, हवाकी ऐसी थपेड़ लगी कि अभी तक मेरे स्मरणसे जाती नहीं है। उस आंधीने मुझे कहांसे कहां पटक दिया, जब मैं कुछ स्वस्थ हो कर जागा तो क्या देखता हूँ कि मैं एक अंधेरी गुफामें पड़ा हुआ हूं; कुछ दिखाई नहीं देता, दुर्गंध ही दुर्गंध आ रही है। वह गुफा इतनी छोटी थी कि मैं हाथ पैर फैला नहीं सकता था, हाथ पैरोंको मोड़ कर गठरीके समान पड़ा था। खाने पीनेका कोई पदार्थ वहां नहीं था, ऊपर से एक नल द्वारा कुछ रस गिरता रहता था, उससे ही मेरा पोषण होता था, चारों तरफ जल भरा हुआ था, मैं अंगुल भर खिसक नहीं सकता था, वहांके कष्टका क्या वर्णन करूं? मैंने नरक का वर्णन सुना है, परन्तु जिस कष्टको मैंने अनुभव किया है, वह कष्ट नरकमें भी न होगा, पीछे अखंडित अग्नि जलती थी, महाकष्टका अनुभव होता था, कितना भी कष्ट क्यों न हो, कोई अपनी जान देना नहीं चाहता, जान सबको प्यारी होती है, इतने महाकष्टमें भी मैं मरना नहीं चाहता था, बैठने, उठने, घूमने और सोनेका एक ही स्थान था, आस पास बहुत प्रकारके कृमी थे, वे भी पीड़ा देते थे, अपने हाथसे मैं उन्हें हटा भी नहीं सकता था। मेरी पांचों इंद्रियां बन्द हो गई थीं, न तो

उनमें सामर्थ्य रहा था, न उनका कोई विषय था, अन्तरमें मुझे कुछ होश था,दुःखका अनुभव अवश्य होता था। हाय दैव! यह क्या हुआ? मैं कहां आ पड़ा? यह कौनसे पापका फल है? ऐसा सोचकर दुःखी हो, वारम्बार ईश्वरसे प्रार्थना करता था, 'हे दीन-बन्धो! शरणागतके रक्षा करने वाले, मुझे इस दुःखमय स्थानसे बाहर निकालिये, बाहर निकल कर मैं आपका भजन करूंगा। अब मुझसे इस स्थानमें नहीं रहा जाता। परंतु हाय! उस समय ईश्वर भी बहिरा हो गया था, बहुत समय तक मेरी प्रार्थना न सुनी गई, वहां एक एक दिन मुझे एक एक युगके समान प्रतीत होता था, दैवको दोष देता था, पूर्वकी सम्पत्ति को याद कर करके रात दिन रोता था परंतु फल कुछ नहीं। जब कई युग बीत गये तब फिर एक हवा चली। इस हवा ने गुफाके जलमें खलबली मचाई, गुफाका द्वार खुल गया और मैं बाहर आकर गिर पड़ा। इस समय भी मुझे बहुत कष्ट हुआ। हाय! उस कष्टका वर्णन नहीं हो सकता। गुफासे बाहर निकलकर मैंने क्या देखा कि मेरा शरीर बहुत छोटा बन गया है। इस समय मुझे जगत्का भान न था। माता, पिता, भाई, जाति आदिक बदल गये थे। अब मैं पूर्वकी सब बात भूलने लगा और नई नई स्मृति अपने भीतर भरने लगा। मुझको वह सब दृश्य आजभी ज्योंका त्यों प्रत्यक्ष हो रहा है। मुझको यह सब स्मृति जो रही, वह योगका प्रभाव ही होना चाहिये। क्रमशः मैं बड़ा हुआ, साधुओंका संग करने लगा। घर-बारको मैंने छोड़ दिया। एक संतने मुझको तत्त्वो-

पदेश दिया। मैंने तत्त्व जान लिया, तो भी मैंने मलिन गुफामें जो कष्ट भोगा था, उससे डरता ही रहा। मैंने अपने गुरु से गुफा के विषयमें पूछा तो उन्होंने कहा कि वह गुफा गर्भवास की गुफा थी, यदि तुझे अब उस गुफा में जाना न हो तो एकांत में पहाड़ के ऊपर संसार से अलग ब्रह्मरन्ध्र-रूप गुफा में निवास कर। तब से मैंने अपना स्थान इस पहाड़ के ऊपर नियत किया है। हवा, जल और फल फूल जो इस स्थान पर हैं, उनसे मैं अपना निर्वाह करता हूँ; और आत्मभाव में संतुष्ट रहता हूँ। मैंने अपना मुख्य सिद्धांत यह ही निश्चय किया है कि बुद्धिरूपी गुहा में कार्य कारण से विलक्षण, सत्य, परम जो अद्वितीय ब्रह्म है, जो पुरुष ब्रह्मरूपसे उस गुहामें रहता है, उसको फिरसे माता के उदर रूप गुहामें कभी भी प्रवेश करना नहीं पड़ता। हे सज्जन! तूने पूछा था, सो कहा, और जो कुछ पूछने की इच्छा हो सो पूछ। मनुष्य बोला, आप पूर्ण संत हैं। अब यह बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये? साधु ने कहा, तू श्रद्धालु है, सत्सङ्गी है, आत्मभाव में टिके बिना शांति नहीं होगी। प्रपंच से तुझे अवश्य हटना पड़ेगा। यदि तुझ में सामर्थ्य हो तो प्रपंच में रहते हुये प्रपंच के भावसे हट, नहीं तो मेरे समान प्रपंच को छोड़ कर एकान्त स्थान में टिक कर बुद्धि रूप गुहा में आत्म समाधि कर। वह पुरुष वहां ही रहा और बुद्धिरूप गुहा में टिक कर माता के उदर रूप गुहा में प्रवेश करनेसे हमेशाके लिये मुक्त हुआ।

साधुने जिस गुफा का वर्णन किया था, वह माता का उदर-

रूप गुहा थी। जब उसमें अत्यन्त तिरस्कार होता है तब ही ज्ञान-मार्ग में आ सकता है और परब्रह्म में स्थित होकर वारम्वार जनमने, मरने और वारम्वार माता के उदर में पड़ने से छूट सकता है, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। संसार महा कठिन है! समुद्र के समान अथाह है! उसमें से उद्धार होना अत्यन्त कठिन है, इसलिये शङ्कराचार्य्यजी उद्धार के निमित्त साथ-साथ ईश्वर स्मरण भी करते हुए कहते हैं कि, हे मुरारे! प्रभो! दया करके इस संसार से मेरा उद्धार करो, अथवा आचार्य कठिन संसारमें से अज्ञानियोंको उद्धार करने को हरि से प्रार्थना करते हैं, ऐसी कल्पना भी कर सकते हैं।

जन्म कब होगा? कौनसी जाति में होगा? मरण कब होगा? किस स्थान पर होगा? इस बात का निश्चय नहीं हो सकता। सर्वव्यापक परब्रह्म को भजे बिना जन्म मरण का पाश निवृत्त नहीं हो सकता। जगत् के भाव से ही जगत् और जगत् का जन्म मरण है। जगत् का भाव हट कर ईश्वर की तरफ भाव हो तब ही जगत्-जाल टूटता है। जगत् मुर दैत्य के समान विकट है। जिस प्रकार हरिके सामर्थ्य से मुर मरा था, इसी प्रकार हरिके सामर्थ्य से ही जगत् मरता है। जगत् मूर-रहित है, तब भी छूटना कठिन हो रहा है। शरीर धारण करके अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं, यह बात सब जानते हैं। कहीं दुःख स्वयं और कहीं दूसरे से प्राप्त होता है। आधि, व्याधि और उपाधि प्रत्येक शरीर के साथ लगी हुई है। मरनेके समयके दुःख

का अनुभव स्वयं अपने को नहीं होता, तो भी दूसरों को दुःख पड़ता देखकर दुःख की कल्पना कर सकते हैं। गर्भवास का दुःख, यम-यातना का दुःख प्राचीन लेखों से जाना जाता है। उसकी छाप भी हृदय में पड़ी हुई होती है। इन सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करने का योग्य पात्र मनुष्य-शरीर और ईश्वर-भजन है। मनुष्य शरीर के सिवाय अन्य शरीरों में भोग की विशेषता होने से वे शरीर भजन करने के योग्य नहीं समझे जाते। देवता भी मोक्ष प्राप्तिके निमित्त मनुष्य जन्म धारण करनेकी इच्छा करते हैं, ऐसा भी शास्त्रोंसे सुननें में आता है। समुद्र को पार करने के लिये जिस प्रकार जहाज है, उसी प्रकार संसार-सागर को तैरनेके लिये ईश्वर भजन है। जहाजको समुद्रमें तूफान मिलता है और अनेक प्रकारके खरावे (समुद्र में आये हुये ढके-हुये पहाड़) मिलते हैं, इसलिये जहाज का टूट जाना सम्भव है। ईश्वर-भजन रूप जहाज को किसी प्रकार का तूफान नहीं लगता और न उलटे मार्ग में ले जाने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोहादि खरावे मिलते हैं। राग, द्वेष, तृष्णा आदिक तभी तक दुःख दे सकते हैं जब तक ईश्वर का भाव नहीं होता। संसारी, संसार के दुर्गन्ध-युक्त कीचड़ में इतने फंसे हुये हैं कि उसमें से निकलने की उनकी इच्छा ही नहीं होती, कोई कोई निकलने की इच्छा करते हैं तो उनकी इच्छा दृढ़ नहीं होती। दृढ़ इच्छा होने लगती है तो पूर्व के दुष्कर्म इच्छा को दृढ़ नहीं होने देते। किसी को संयोग विपरीत होता है। यदि ये सब संयोग अनुकूल प्राप्त हो जायं और इच्छा दृढ़

होने तक पहुंच जाय तो काम क्रोधादिक शत्रु तन, मन के भाव को भुलाकर अपने वश में कर डालते हैं। कभी कभी बुरी संगति प्राप्त होती है, वह भी शुभ मार्ग से विमुख कर देती है ।

ऐसे बहुत थोड़े मनुष्य ही ईश्वर भजन के योग्य होकर भजन कर सकते हैं ।

लाखों मनुष्य सदाचरण और ईश्वर की चर्चा करने वाले होते हैं । उनमें किसी की चर्चा ही वास्तविक चर्चा होती है । लाखों यथार्थ चर्चा करने वालों में कोई एक ईश्वर को यथार्थ पहिचानता है, इसलिये बुद्धिके अनुसार प्रपंचकी रुकावटको काटते हुये ईश्वर भजन में लग जाना चाहिये । करने वाला अवश्य कुछ कर ही लेता है । ईश्वर के सिवाय अन्य किसी का सहारा काम में नहीं आता; इसलिये ईश्वर की निरंतर स्तुति करना अथवा इच्छानुसार ईश्वर का ध्यान करना, पूजन करना, सत्संग, सत्शास्त्र का पठन, पाठन, विचार, समाधि ये सब ही ईश्वर भजन में शामिल है । भजनकी रीतियां अनेक हैं, परन्तु सबका सारांश यह है कि ईश्वर भाव में वृत्ति तदाकार हो जाय । यह ही सच्चा भजन कहलाता है । इसके सिवाय अन्य भजन को लोग अनर्थ रूप कार्यों से अच्छा समझते हैं, तो भी वह अच्छा नहीं है, क्योंकि वह कभी न कभी अनर्थ को ही उत्पन्न करने वाला होगा । असत्य से कौन कौन बुरे परिणाम नहीं होते ? सभी होते हैं, इसलिये सत्य की आवश्यकता है । जो भजन सत्य नहीं है, उसको सत्य समझने से वह असत्य में ही गिरावेगा । जब ईश्वर में सत्यता से तन मन

लग जाता है तब सब प्रकार के बन्धन टूट जाते हैं। 'सब ईश्वर की लीला है,' 'ईश्वर ही कर्ता धर्ता है' ऐसा केवल मुखसे कहनेसे कोई बन्धन से छूट नहीं सकता। मोटी बुद्धि से समझने के लिये जगत् दो प्रकार का है—एक ईश्वर जगत्, दूसरा जीवका जगत्। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशमेंसे पैदा हुये स्थावर जंगम रूप विचित्र प्राणी ईश्वर रचित जगत् है। ईश्वर के जगत्में जन्म लेकर जीव उसके पदार्थोंमें 'यह मेरा'-'यह तेरा' और 'यह दूसरेका' इस प्रकार भेद करके अपने उपयोगके पदार्थोंमें स्वार्थसे ममत्व को धारण करता है, यह जीवका जगत् है। ईश्वर जगत्, उत्पत्ति और नाशवाला है, परन्तु जीवको जीवका जगत् ही बंधन-रूप है। विचार कर देखा जाय तो स्त्री एक है, स्त्री ईश्वरके जगत् का पदार्थ है जीवके जगत् में उस स्त्री में जिसका जैसा स्वार्थ होता है उसी प्रकारका उसका सम्बन्ध और ममत्व माना हुआ है, तो भी सत्य माना जाता है। जब ईश्वर जगत्की वह स्त्री मर जाती है तो भिन्न भिन्न सम्बन्ध और मान्यता से भिन्न भिन्न प्रकारका खेद होता है। जिसमें ममता न हो, ऐसी कोई अन्य स्त्री मर जाय तो किसीको खेद नहीं होता। मतलब यह है कि ईश्वर-जगत् सामान्य होने से दुःखका हेतु नहीं है। उसके पदार्थों में जो ममता और राग हैं वे ही जीवके जगत् में जीवको दुःख देते हैं, ईश्वर जगत्में बारम्बार जन्म धारण करने का हेतु ममता ही हैं, जीव अपने जगत्में ही कष्ट भोगता है। जन्म मरण रूप बन्धनको तोड़ने वाले ईश्वरको पहिचानना ही हमारा मुख्य कर्तव्य

है। यदि पूर्ण श्रद्धासे ईश्वरकी तरफ प्रेम होगा तो अत्यन्त कठिन ऐसा भजन ही बहुत सुलभ हो जायगा। घुघू सूर्य को नहीं देखता, क्योंकि वह दिनमें अन्धा होता है। यदि घुघू सूर्य को न माने और रात्रिको ही सुख रूप समझे, तो इसमें सूर्यका क्या दोष? प्रपंचासक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि भी इसी प्रकार की है। सब ही जानते हैं कि प्रकाश में जो सुख है वह अंधेरे में नहीं है। आत्मा प्रकाश रूप है और माया अंधेरा रूप है, मलिन अन्तःकरणमें ईश्वर संबंधी प्रकाश ज्ञान नहीं होता, इसलिये यदि मलिन अन्तःकरण वाला मनुष्य विषय-रसकी बातों में अथवा क्षणभंगुर हाड़, चाम, मांस, रक्तके शरीरके पालन पोषण करनेमें जन्मकी सार्थकता मान बैठे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जब थोड़े समयके व्यवहार को सुधारने की चिन्ता रखते हैं तो जिससे अनन्त समय तक सुख रहे, ऐसी ईश्वर की प्राप्ति की चिन्ता क्यों नहीं करते? यह संसार निःसार और दुःखरूप है, उसे साररूप और सुखरूप करने का मार्ग ईश्वर भजन है। तुच्छ से तुच्छ स्थिति में से भी ईश्वर भजन बड़े से बड़ा बना देता है। जगत् की उलटी रीति है। पशु पक्षियों के योग्य विषय भोग में ही लगे रहने और पशुवत् विहार करने में तो संसारियों को लज्जा नहीं आती, किन्तु ईश्वर का निर्मल मन से नाम लेने में, भजन करने में इतनी लज्जा आती है, मानो यह महा अनर्थ का कार्य हो। हे मनुष्य, समझ, विचार, ईश्वर भजन कर।

दिनमपि रजनी सायं प्रातः
शिशिर वसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीड़ति गच्छत्यायु-
स्तदपि न मुंचत्याशा वायुः ॥५॥ भज०॥

अर्थः—दिन होता है, रात होती है, सांझ होती है, सवेरा होता है, शिशिर वसंतादि ऋतुयें वारम्वार आती हैं, इस प्रकार काल क्रीड़ा करता है और आयु चली जाती है, तो भी आशाके पवन को नहीं छोड़ता । हे मूढ़मते! गोविन्द का भजन कर ले ।

होत दिवस निश सांझ सवेरा ।
शिशिर वसन्त लगावें फेरा ॥
खेलत काल घटत है आयू ।
तदपि न त्यागत आशा-वायू ॥ भज० ॥

काल एक होते हुये भी व्यवहारमें समझनेके लिये कल्पनासे काल के अनेक टुकड़े किये हैं । ये काल के टुकड़े चक्र के समान हमेशा भ्रमण किया करते हैं । काल के टुकड़ों से ही ग्रहादिकी चाल, भूत, भविष्य, वर्तमान, सबका आना जाना, विकार को प्राप्त होना, उत्पत्ति और नाश होता है । एक ही सूर्य जो ब्रह्माण्ड भर को प्रकाशित कर रहा है, चाल और काल करके दिन और रात करता है । दिन और रात की संधिमें सुबह और शाम होते

हैं। यह प्रत्येक दिनका निश्चय कार्य है। दिन गया, रात आई, रात भागी, दिन हुआ, शाम मिटी, दूसरे दिन सुबह हुआ और फिर शाम हुई। इसी हिसाबसे शिशिर वसंत आदि ऋतुयें कह-लाती हैं, आती जाती रहती हैं। एक जाती है, दूसरी आती है। जो चला जाता है फिर नहीं आता। गया हुआ समय फिर नहीं लौटता। परन्तु उस समयका चालू प्रवाह पदार्थोंको जीर्ण करके नाश कर डालता है। जो अखण्डित काल है, उसका तो कुछ बिगड़ता नहीं है, उसका तो अपने अंग-उपांगसे खेल है, क्रीड़ा है, परन्तु सब पदार्थ जीर्ण होते चले जाते हैं। काल क्रीड़ा करनेसे थकता नहीं है, उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता, परन्तु खण्डित होने वाले पदार्थों के खण्डित होनेका हेतु वह ही है। जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है तैसे तैसे मनुष्य की आयु क्षीण होती चली जाती है। मनुष्य उत्तम प्राणी है, उसे अपनी आयु की समाप्ति से पूर्व ही परम पुरुपार्थ साध्य कर लेना चाहिये। काल का अप्रतिबद्ध प्रवाह बहता ही रहता है। जिस काल में जो कुछ कर लिया जाय, वह ही फल है। परम पुरुपार्थ को न करने देने वाली आशा है। आशा की फाँसी से बंधा हुआ मनुष्य परम पुरुपार्थ को साध्य नहीं कर सकता। उसको उपदेश देते हैं कि मायिक सब पदार्थोंका नाश होता रहता है, यह तू देखता रहता है, तब तू अपने शरीर के नाश को क्यों नहीं देखता? आज तक किसी का भी शरीर रहा हो, ऐसा नहीं है, तेरा शरीर भी रहनेवाला नहीं है; इसलिये शरीरके नाश होनेसे प्रथम

ही परम पुरुषार्थ कर ले। मुख्य विषय पांच हैं और उनके पदार्थ अनेक हैं। अब तक तेरी आशा उनमें लगी हुई है, आशा रूप वायु को तू नहीं छोड़ता। तेरी आयु जो नित्य प्रति घट रही है, समाप्त हो जायगी, तुझसे कुछ भी न हो सकेगा। तेरा मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जायगा। इसलिये हे मूढ़! विचार कर, विषयों की आशा रूप वायुको छोड़ और गोविन्द का भजन कर!

पृथिवी के पटपरके मनुष्यों को जितने समय तक सूर्य दीखे, यानी सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने पर्यन्त के कालको दिवस कहा जाता है और जितने समय तक सूर्य न दीखे यानी सूर्य के अस्त होने के बाद फिरसे उदय न हो उतने काल को रात्रि कहते हैं। सूर्य अस्त होने के समय को सायंकाल कहते हैं। इसका दूसरा नाम सायं संध्या भी है शाम की संधि का समय होनेसे सायं संध्या कहलाती है। इसी प्रकार सूर्य उदय को प्रातःकाल यानी सुबह कहते हैं। यह प्रातःकाल की प्रात.संध्या है। दो संधि और रात्रि दिन मिल कर एक दिन कहलाता है, ऐसे तीस दिनका एक महीना कहलाता है, दो महीनेकी एक ऋतु होती है। ऋतु छः कहीं जाती हैः—शिशिर, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमंत छः ऋतुओं का वर्ष होता है। इस प्रकार वर्ष का वर्ष चला जाता है, दिन के बाद रात्रि और रात्रिके बाद दिन का क्रम चालू है, इसी प्रकार सुबह शाम का क्रम है बारह मास का भी इसी प्रकार क्रम है। शिशिर के बाद बसंत, बसंत के बाद ग्रीष्म ग्रीष्मके बाद वर्षा, वर्षा के बाद शरद, शरद के बाद हेमंत और

हेमंत के वाद शिशिर, इस प्रकार क्रम चलता रहता है। ऊपर वाले, एक के वाद दूसरा, दूसरेके वाद तीसरा इस प्रकार आते जाते हैं। जैसे चक्र घूमा ही करता है ऐसे ही वे घूमते रहते हैं। एक ही काल के भीतर यह खेल होता रहता है। खेल होनेसे यह कालकी क्रीड़ा है, क्रीड़ा करने वाला क्रीड़ा करता है और क्रीड़ा में फंसने वाले मरते हैं। काल अमर है, मरता नहीं, नया पुराना होता नहीं, कालचक्र के अंग आते हैं और जाते हैं। जो चला जाता है, फिर नहीं आता, किन्तु सब अंग एक से होनेसे अज्ञान से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ही आते जाते हैं, कहते भी हैं कि "जो दिन गया लौट कर नहीं आता" इस चक्रमें कहा जाताहै कि "गया समय फिर नहीं आता।" इसी प्रकार आयु भी गई सो गई, फिर नहीं आती और जिस आयु में जो कार्य करनेका था, यदि वह न किया तो अन्त में पश्चात्ताप ही होता है, दुःख ही होता है। मनुष्य पैदा हुआ तबसे ही उसकी आयु निर्माण होचुकी है, ज्यों ज्यों वह वड़ा होता जाता है त्यों त्यों उसकी आयु क्षीण होती चली जाती है, वड़े होनेसे माता पिता और हम तो प्रसन्न होते हैं और काल विचारता है कि अब यह मूढ़ जल्दी से मेरा ग्रास होकर मेरे मुख में गिरेगा! गंवार मसल है (चौपाई)—"मात कहे सुत होत बड़ेरो। काल कहे आवत दिन मेरो॥" इसलिये आयुको न गुमा कर गोविन्द का भजन कर लेना चाहिये। जो यथार्थ रीति से गोविन्द का भजन करता है, जिसको अज्ञान नहीं है, उसको भक्षण करने के लिये महाकाल भी समर्थ नहीं है। जब बुढ़ापा

आता है तब शरीर की शक्ति घट जाती है, बुद्धि भी परम पुरुषार्थ साध्य करने में सामर्थ वाली नहीं रहती, बुद्धि और शक्ति तो घटती जाती है परन्तु आशा दिन पर दिन बढ़ती जाती है मरण के समीप आने पर भी आशा नहीं छूटती। मन की आशाओं की जंजीर लोहे की दृढ़ भारी जन्जीर हो जाती है। आशा करने वाला उस जंजीरसे बांधा जाता है और अनेक जन्मोंतक कष्ट भोगना पड़ता है, इसलिये आशाको छोड़ कर ईश्वर भजन करना चाहिये। घर, स्त्री, पुत्र, नातेदार, सम्बन्धी आदिकों में आशा, धनादिकमें ममता, सुखकी लालसा और शरीर पर अत्यन्त प्रेम करना, ये सब आशाका ही स्वरूप है। आशा करना आशाका स्वरूप है, वह ही आशा अनेक प्रकारकी योनियोंमें गर्भवासको भुगवाती है। कहा भी जाता है कि 'जहां आशा, वहां वासा।'

भिक्षुकसे लेकर क्रोड़ाधिपति पर्यन्त सब में आशा समान ही है, आशाकी गिनती बाहरके पदार्थों से नहीं होती आशा अन्तः-करणमें होती है, छोटे पुरुषको थोड़े पदार्थों की और बड़े को विशेष पदार्थों की आशा होती है, तो भी आशा दोनोंमें समान ही है। आशा अनन्त कही जाती है, क्योंकि आशाका कभी अंत नहीं आता, बार बार शरीरका नाश होता रहता है, आशाका नहीं। कबीरका एक दोहा भी है—"माया मरी न मन मरा, मरमर गये शरीर। आशा तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर॥" परमपदकी प्राप्तिमें ही आशाकी निवृत्ति है, क्योंकि आशा व्यक्तिमें रहती है, व्यक्तित्वके अभिमान रहित आशा नहीं रह सकती।

इसलिये आशा सुखका नाश करनेवाली, लोहूको सुखानेवाली और आयुको व्यर्थ करने वाली है। आशाको छोड़ कर अपने स्वरूप को पहिचानना चाहिये।

आनन्दपुर नामका एक बड़ा शहर था। उसमें सब प्रकारसे आनन्द ही आनन्द था। जितना कुछ आनन्द होसकता है वह सब ही उस शहर में था। यदि उसे आनन्द का महासागर कहा जाय तो ठीक ही है। वह सब प्रकार के सुख की खानि थी और विशेषता यह थी कि जोकोई उस शहरमें आजाता था वह शहर से बाहर नहीं जाता था और उसका आनन्द भी कभी कम नहीं होता था। उस विशाल शहरके भीतर जानेका एक ही मार्ग था। वह शहर चारों तरफसे बड़े बड़े पहाड़ और दीवारों से घिरा हुआ था। जिस मार्गसे उस शहर में जाया जाता था, उस मार्ग में दोनों तरफ बहुत ऊंचे दो पहाड़ खड़े थे। जैसे बद्रीनारायण जाने में दोनों तरफ नर और नारायणके दो पहाड़ खड़े हैं, इसी प्रकार वे पहाड़ थे। उन पहाड़ोंके बीचमेंका मार्ग पांच कोसका था। उस मार्गमें थोड़ा मैदान था। एक समय उस मैदान में एक तमाशगीर ने अपना तमाशा करने को तम्बू लगाया उस तम्बूमेंसे ही आनन्दपुर जाने का मार्ग था। जो कोई आनन्दपुर जाना चाहता था, उसे तमाशगीर के तम्बूमें होकर जाना पड़ता था तमाशा बहुत विलक्षण था। एक बड़े ऐंजिन की पावर से तमाशा होता था। उसमें एक मुख्य चक्र था, मुख्य चक्र के साथ-में कई चक्र लगे हुये थे। सब छोटे छोटे चक्र घूमते हुये बड़े चक्र

घूमता था। उसमें घड़ीके समान चक्र लगे हुए थे! सबसे जो छोटा चक्र था, वह बहुत तेजीसे घूमता था। उसके घूमनेकी चाल पश्चिमसे पूर्वकी तरफकी थी। उसका एक भाग काला और दूसरा भाग सफेद था। जो काला भाग था, वह बीचमें बहुत काला था और आसपासमें कम काला था। इसी प्रकार जो सफेद भाग था वह भी मध्यमें बहुत सफेद और आसपास कम सफेद था। उस चक्रमें अनेक प्रकारके चित्र निकाले गये थे। जिस प्रकार बाइस्कोपका तमाशा सब क्रिया करता दीखता है उसी प्रकार उस चक्रमें के चित्र भी क्रिया करते थे और बोलते भी थे, यानी पांचों इन्द्रियोंके विषय इन चित्रोंमें थे। वह बाजू वाला चक्र एक दूसरी चालसे भी घूमता था, यह चाल उत्तर दक्षिणकी थी। जब छोटे तीस चक्र अपनी चाल पर घूम जाते थे तब एक बड़ा चक्र पूर्ण होता था। बड़े चक्रमें भी छोटेके समान अनेक प्रकारके जड़ और चैतन्य के चित्र थे जो सब क्रियाओंसे देखने वाले को मोहित करते थे। यह चक्र भी स्थिर नहीं था, अपनी चालसे घूमता था। जब वह दो बार घूम जाता था, तब उसके ऊपर वाले चक्र को चाल मिलती थी। जब ऐसे छः चक्र घूम जाते थे तब उनके ऊपर का चक्र घूमने लगता था। जब वह एक बार घूम लेता था तब फिरसे घूमना आरम्भ करता था और ऐसे बारम्बार घूमा ही करता था। उसके साथ लगे हुये चक्र भी अपनी चालसे घूमते रहते थे। जो मनुष्य आनन्दपुर में जाना चाहते थे उनको इस मार्गमें होकर निकलना पड़ता था। जाने

वाले खेलको देखकर मोह को प्राप्त होजाते थे और खेल देखनेमें लग जाते थे। 'थोड़ा और देखलें' ऐसी आशा करते करते तंबूमें ही मर जाते थे, बहुत कम मनुष्य चक्र और चित्रोंके तमाशे क देखने की आशा छोड़कर, तम्बूसे बाहर निकल कर आनन्दपुरमें पहुँचते थे। बहुत से मनुष्य तो खेल देखने में इतने मस्त होजाते थे कि उनके होश-हवास ही ठिकाने नहीं रहते थे। अभी तक आनन्दपुर के मार्गमें तमाशगीर पड़ा हुआ है, बहुतसे मनुष्य भी वहां फंसे हुये हैं। जिसको इस बातका निश्चय न हो, वह वहां जाकर देख सकता है, परन्तु शर्त इतनी है कि यदि खेलको हवामें दब जायगा तो देखने वाले का भी वैसा ही बुरा हाल होगा जैसा कि वहांके मनुष्योंका हो रहा है !

ऊपर जिस चक्र का वर्णन किया है, वह संवत्सर-संसारका चक्र है। काल खेल करने वाला है, आनन्दपुर परमपद है, वहां जानेकी इच्छावाला मुमुक्षु है, खेल जगत् है, पांच कोश शरीरके पांच कोश हैं। सबसे विशेष घूमनेवाला चक्र दिन रात का है जिसकी चाल पूर्व पश्चिममें है, तीस चक्र वाला मासका चक्र है, दो मासकी चालवाला ऋतुका चक्र है, छः ऋतु-रूप छः चाल वाला चक्र वर्ष-संवत्सर है। इस चक्रमें, चक्रके चित्रोंमें, चक्रके विषयों मैं जिसकी आशा लग रही है, वह चक्रसे दृष्टिको नहीं हटाता, दृष्टिको न हटाना ही आशा है। विषय लालसा रूप हवा है, वह ही आशाकी वायु कहलाती है। जो मुमुक्षु परमपद प्राप्त करना चाहता है, उसको रोकनेवाली तमाशेकी आशा है। आशामें

मनुष्यकी जन्म-रूप आयु व्यर्थ जाती है, वह ही मृत्यु है, इसलिये उस चक्रमेंसे निवारण करनेवाले गोविन्दका भजन ही इष्ट है।

जिस प्रकार जलके आवर्त-चक्रमें पड़ा हुआ निकलने नहीं पाता, डूब ही जाता है, उसी प्रकार इस संसार के कालचक्र में पड़ा हुआ भी विशेष करके डूब ही जाता है। जो इस चक्रको जानता है, चक्रसे अलग रहता है, अलग होने का प्रयत्न करता है, उसका कल्याण होता है। अनित्य ऐसे इस संसार और मनुष्य शरीर को प्राप्त करके जगत् की आशाओंको न छोड़नेसे अनित्यता के प्रवाह में ही बहते रहना पड़ता है। जैसे मृत्तिका समान तुच्छ पदार्थमें से भी शोधन करके सुवर्ण निकाल लिया जाता है उसी प्रकार अनित्य संसार मेंसे अदृश्य ऐसे सत् आत्म स्वरूपको अलग करके ग्रहण करना चाहिये। जगत् और जगत्के पदार्थोंकी आशा के सिवाय जगत्में कोई दुःखदायक नहीं है। ऐसा कहा भी जाता है कि आशासे ही जगत्में जीवन है, जब तक जगत्में आशा है तब तक जगत् वासकी निवृत्ति नहीं होती। जिसको जगत् दुःखरूप दीखे उसको जगत् की आशा समूल तोड़नी चाहिये और स्वरूपको पहिचानना चाहिये। जिसके शब्दको कर्ण नहीं सुन सकता परन्तु जिसकी सत्ता से कर्ण सुन सकता है, जिसको चमड़ी का स्पर्श नहीं होता परन्तु जिसकी सत्तासे चमड़ी स्पर्श कर सकती है, जिसको आंख नहीं देख सकती परंतु जिसकी सत्तासे आंख देख सकती है, जिसको जिह्वा चख नहीं सकती परंतु जिसकी सत्ता से जिह्वा स्वाद लेने को समर्थ होती है,

जिसको नासिका सूंघ नहीं सकती परन्तु जिसकी सत्तासे नासिका सूंघने को समर्थ होती है, जिसको मन पहुंच नहीं सकता परन्तु जिसकी सत्तासे मन संकल्प विकल्प करने को समर्थ होता है, ऐसे सर्व शक्तिमान् ईश्वरको शास्त्र-संग और सत्संग से पहिचानेना चाहिये। ईश्वर को पहिचाननें के मार्ग में पड़नेके बाद ईश्वर दूर नहीं है, ईश्वर के पहिचानने के मार्ग में रोक करने वाला आशा का पवन है। जैसे आंधी का पवन आंखों में धूल डालकर अन्धा कर देता है इसी प्रकार आशा का वायु अन्धा करदेता है। इस लिये आशाकी निवृत्ति किये विना ईश्वर के मार्ग में जा नहीं सकते। आशा संसार में भी दुःख का हेतु है, किन्तु संसार में फंसे हुये दुःख पाते हुये भी आशाको दुःखकी पैदा करने वाली नहीं समझते। आशा से हानि उठाने का एक लौकिक दृष्टान्त इस प्रकार है:—

एक जुलाहे और एक लोहार में मित्रता थी। दोनों एक दूसरे को सच्चे प्रेम से चाहते थे। दैवयोग से दोनों का धन्धा छूट गया, जब गुजारा होने में बाधा पड़ने लगी तब दोनों विचार करके कमाई करने के लिये परदेश जाने को ज्योतिषी से मुहूर्त पूछ कर शुभ मुहूर्त में घर से चल दिये और ग्राम २ घूमने लगे, क्योंकि जहां जांय वहां बुनने वाले और लोहार का काम करनेवाले देखनें में आवें, उन दोनों का विचार था कि जहां ये दोनों पेशे वाले न हों, वहां रहने से कमाई होगी। परन्तु ऐसा ग्राम, कस्बा अथवा शहर कोई न मिला। जहां वे पहुंचते वहां पूछते थे कि इसग्राम में

कोई जुलाहा और लोहार है या नहीं। जब यह उत्तर मिलता कि हां है, तब निराश होकर आगे बढ़ते थे, ऐसे प्रश्न से कोई कोई मसखरी भी करने लगता था तब वे कहते थे "हाय! जगत् के लोगों को हमारी उन्नति की ईर्षा होती है। हमको कोई सीधा मार्ग नहीं बताता, हमको पास के जंगल को पार करके दूसरे देश में जाना चाहिये।" ऐसा विचार कर जो कुछ उनके पास था, उसका खाने का सामान लेकर वे दोनों जंगलमें घुसे। यह जंगल सौ डेढ़ सौ कोस बड़ा था, चलते २ उनको शाम हो गई। वन में गाढ़ा अन्धकार छागया, आगे का मार्ग सूझना बन्द हो गया, दोनों एक पेड़के नीचे बैठ गये और रात्रि में वहीं सो गये। दोनों नींदमें पड़े थे, अचानक चौंक पड़े। जागतेही उनको स्त्रियों के मधुर गाने की आवाज सुनाई दी। उस आवाज को सुन कर दोनों मुग्ध हो गये और अन्धेरे में ही जिस दिशासे आवाज आ रही थी उस दिशा को चल दिये। थोड़ी दूर जानेसे कुछ प्रकाश मालूम हुआ और कितनेही स्त्री पुरुष एक दूसरे के हाथ में हाथ देकर नाचते और गाते दिखाई दिये। गानेका भावार्थ क्या है, यह उनकी समझमें न आया किन्तु गाना प्रिय मालूम हुआ।

वे स्त्री पुरुष एक दूसरे को पकड़कर चक्रमें घूम रहे थे। उनके मध्यमें एक वृद्ध पुरुष था। उसने दोनों मित्रों को देखकर इशारेसे समझा दिया कि तुम भी चक्र में मिलकर नाचने लगो। दोनों उस चक्र में घुस गये और सबके साथ नाचने लगे। थोड़ी देर बाद वृद्ध पुरुष चक्र में से बाहर निकल आया और उस्तरेको

पत्थर पर घिस कर तेज करने लगा। जब उस्तरा तेज हो गया तब उसने जुलाहे को चक्रमे से बाहर निकाला। जुलाहा बहुत घबराया परन्तु कर क्या सकता था। बुड्ढे ने डाढ़ी मूंछें और शिरको उस्तरेसे मूड़ डाला। फिर उसने लोहार को चक्रमेंसे खींच कर उसका भी मुंडन किया। इसी समय नाचना गाना बंद होगया, सब नाचने गाने वाले अदृश्य होगये। बुड्ढे ने जुलाहे और लोहार को सामने एक कोयलों का ढेर दिखला कर कहा "इनमें से जितने ले सको उतने तुम ले जाओ!" इतना कह कर बुड्ढा भी अदृश्य होगया! जुलाहे और लुहारने जितने कोयले उठा सके उतने उठा कर, उनकी गठरियां बांध लीं। जुलाहे ने विशेष बोझा बांधना अच्छा न समझ कर थोड़े कोयले बांधे थे। थोड़ी देरमें सुबह हो गई। प्रकाश में क्या देखते हैं कि जिनको उन्होंने कोयला समझा था वे सुवर्ण के ढेले थे। जुलाहा अपने पास थोड़ा और लोहार के पास विशेष सुवर्ण देख कर पश्चात्ताप करने लगा। वृद्ध ने उनके शिर डाढ़ी और मूंछ मूंड़ लिये थे. परन्तु दोनों के शिर डाढ़ी और मूंछ के बाल जैसे के तैसे ही थे और पूर्वसे भी अधिक शोभा देरहे थे। यह देख कर दोनों को बड़ा आश्चर्य हुआ। जुलाहे ने लोहार से कहा, तेरे पास सुवर्ण बहुत हैं! मैं आजकी रात्रि भी इस जंगलमें रहना चाहता हूँ, आज मैं बहुत सा सुवर्ण लूँगा। लोहार ने कहा, अब विशेष आशा को छोड़ दे, जो कुछ हमको मिला है, वह हमारे लिये बहुत है. हम दोनों सब सुवर्णको मिला कर बांट लेंगे। जुलाहेने कहा, नहीं! मैं तुमसे लेना

नहीं चाहता, आजकी एक रात्रि इस जंगल में रहना इतना ही तो काम है। रात्रि हुई और पूर्व के समान संगीत-ध्वनि सुनाई दी! लोहार ने कहा, मित्र, तुझे जाना हो तो तू जा, मुझको तो जो मिला है उसी में संतोष है। जुलाहे ने लोहारका कहना न माना और लोहार को छोड़ वह अकेला ही नाच करने वालों की तरफ़ गया और वृद्ध पुरुषके इशारे की राह न देख कर तुरन्तही नाचने वालों के भीतर घुस गया। थोड़ी देरमें वृद्ध पुरुष बाहर निकला और पूर्व के समान उस्तरा तेज करने को घिसने लगा। पश्चात् उसने जुलाहेको चक्रमेंसे खींचकर मूंड डाला। नाच बंद हुआ, सब अदृश्य हो गये। वृद्ध के बिना कहे हुये ही जुलाहेने कोयलों के ढेर के पास जा कर मुश्किल से उठ सके इतनी भारी कोयलोंकी गठरी बांधली। गठरी शिर पर रख कर वह लोहार के पास आया। लोहार सो रहा था। सुबह होने पर जुलाहेने कोयलोंकी गठरी खोली और देखा तो उसमें कोयले ही थे! पूर्व दिन की गठरी में देखा तो उसमें भी कोयले ही थे। यह देख कर जुलाहा रोने लगा! लोहार जागा वो देखता है कि जुलाहेका शिर, डाढ़ी और मूंछ मुंडे हुये हैं। जुलाहेने सब वृत्तान्त सुनाया, लोहार ने कहा; हाय मित्र! अति आशासे, लोभसे तेरा नाश हुआ है। जुलाहा पागल हो गया। लोहार ने उसे ठिकाने पर लाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु उसकी बुद्धि ठिकाने न आई। वह आज भी आशा के अरण्य में पागल होकर घूम रहा है! जिसको निश्चय न हो वहां जाकर देख सकता है।

ऊपर के दृष्टान्त से , मालूम होता है कि जुलाहे के समान आशा करने वालेकी बुरी दशा होती है और लोहार के समान संतोषी सुखमें रहता है। आशा राक्षसीका जिसे संग होता है वह, अत्यन्त कष्ट पाता है। जो आशा को स्वर्ग की सुन्दरी समझकर उस पर मोहित होता है वह स्वरूप से पागल अज्ञानी होजाता है इस दृष्टान्तको आध्यात्मिकमें इस प्रकार समझ सकते हैं:— जिस प्रकार जुलाहे और लोहार की मित्रता थी इसी प्रकार जीव और कूटस्थमें भी मित्रता है। जीव जुलाहा है और कूटस्थ लोहार है। दोनों ही आशारूप जंगलमें गये। वहां स्वप्न दृश्य के समान स्वप्न में जाग्रत हो कर अपनी अवस्था को भूल गये। नींद में स्वप्न आता है, ऐसे ही आत्म नींद में यह प्रपंचरूप जगत् है। जो जगत् है, वहही आशा अरण्य का नाच और संगीत है। उसमें रहा हुआ वृद्ध पुरुष वेद—ब्रह्मा है। बहुत प्राचीन होने से वृद्ध है जुलाहा जीव इसलिये है कि वह मेरातेरा रूप तानेबाने से संसार रूप पट को बुनता है, असंतोषी और आशा वाला है। बूढ़े का वालों को मूंडना कर्म और उपासना है। कोयलारूप सुवर्ण देना, यह उनका फल है; कूटस्थरूप लोहार संतोषी है इसलिये निर्विकार रहता है; जुलाहा अपनी चतुराई लगाने गया, उसने विशेष कोयलोंकी गठरी बांधी, इस बुद्धिने उसे फंसाया, जीव रूप जुलाहे ने दूसरे दिन की इच्छा की कूटस्थरूप लोहार ने आशा न की। जुलाहा विशेष मिलनेकी इच्छासे दूसरे दिन गया। वेद रूप बुड्ढे की आज्ञा लिये बिना जगत्का नाच नाचा और बिना आज्ञा ही

कोयलोंकी गठरी बांधी। वेदकी आज्ञा रहित कर्म और उपासना ने कोयले दिये, सुवर्ण न दिया, इस प्रकार आशासे जुलाहे रूप जीवका नाश होता है, आशा रूप अरण्य में ही यह जगत् है। जुलाहा रूप जीव पागल—भ्रष्टबुद्धि होकर जगत् में भटकता है, दुःख पाता है, यह प्रत्यक्ष देख लो! कूटस्थमें संसार होते हुये भी कूटस्थ संसारी नहीं है, संतोपी होने से हमेशा एकसा बना रहता है।

"अभी तो वहुत समय है, क्या अभी मरण आया ही जाता है, ईश्वरको भजना है सो भज लेंगे, अभी कुछ समय चला नहीं गया, अभी तो कच्ची अवस्था है, संसार का सुख भी तो भोग लें, मरने के समय ईश्वर को भज लेंगे!" ऐसा विश्वास करने वाले ईश्वरको बिसार संसारको ही भजते हैं, संसार विषरूप है परन्तु उनको मिष्ट दीखता है इसलिये उसके स्वादमें लग जाते हैं, अन्तमें उनसे कुछ नहीं हो सकता इसलियें पछताना पड़ता है। काल ने किसको नहीं खाया? बड़े २ ज्ञानी, वीर और ईश्वरा-वतारादिक भी कालके प्रभावसे मारे गये हैं, जगत्में कालके वश न हुआ हो, या होनेवाला न हो, ऐसा कोई भी नहीं है। इसलिये विद्वान् अपने आत्मिक स्वार्थ को सिद्ध कर लेना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं। काल ही ईश्वर है, काल सबका ही काल है, कालका काल न होनेसे ही काल ईश्वर है, जो ईश्वरको भजता है, वह हमेशाके लिये कालसे बच जाता है। जब तक आत्माको नहीं जानते तब तक सब दुःखोंकी जड़ अज्ञान और अज्ञानका कुटुम्ब

राग द्वेष, मोह, ममत्व, काम, क्रोध, लोभ, आशा, तृष्णा, अशांति आदिक दोष हृदयमें बने रहते हैं। आशा चली जानेसे ईश्वर की पहिचान होती है, ईश्वर के पहिचानने से ईश्वर में रुचि होती है, ज्यों ज्यों ईश्वरमें रुचि बढ़ती जाती है त्यों त्यों आशा कम होती जाती है, जब ईश्वरका सानिध्य—साक्षात्कार होता है तब आशा निर्मूल होजाती है। जो आशाको मार डालता है उसको ईश्वर दूर नहीं रहता, अपने आद्यस्वरूप को जानकर उसमें स्थिति करना यह ही मनुष्य जन्मका सार्थक है।

जटिलो मुंडित लुंचित केशः
काषायांबर बहुकृत वेषः।
पश्यन्नपि च न पश्यति लोक
उदर निमित्तं बहुकृत वेषः॥६॥भज०

अर्थः—शिर पर जटायें रखने वाला, शिरके संपूर्ण वालोंको मुंडाने वाला, नोंचे हुये वालों वाला, भगवां वस्त्र वाला, अनेक प्रकारके वेष धारण करने वाला, पेट भरनेके लिये ही बहुत वेष धारण करता है, मूढ़ मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता। गोविन्दका भजन कर ले।

मुंडित लुंचित केश जटाधर।
वस्त्र रंगत बहुवेष धरत नर॥
जानत पर नाहिं मूढ़ विचारत।
पेट भरन बहुवेष संवारत॥६॥ भज०

अपने यहां श्रद्धाका जो लक्ष प्रचलित है उसमें बहुत स्थानों पर श्रद्धामें अन्धता घुस गई है। अंध श्रद्धासे बहुधा विपरीत फल ही होता है क्योंकि श्रद्धा करने के योग्य पर ही श्रद्धा करने से श्रद्धाका फल होता है। शास्त्र में त्यागका माहात्म्य बहुत प्रकारसे लिखा गया है। हमको विचारना चाहिये कि त्याग किस किस संयोग में और कैसी योग्यता सहित होता है। यदि त्याग करने पर भी त्यागे हुयेमें राग हो तो वह त्याग नहीं कहा जाता। त्याग आंतरिक त्याग सहित ही शोभा पाता है और तब ही यथार्थ फलको देता है। आंतर त्याग रहित बाहरका त्याग अशोभनीय है और दुःख रूप फलको देने वाला है। ऐसे त्यागके ऊपर श्रद्धा करना, केवल वस्त्रादिक से ही परमपूज्य, संत, महात्मा और पूर्ण सिद्ध मान लेना, उसके साथ उसी प्रकार का वर्ताव करना अयोग्य होनेसे अंध श्रद्धा कही जाती है। अथवा जिसकी योग्यता आदिक अन्धेरेमें है जो श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है उस पर श्रद्धा करना अन्ध श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धासे श्रद्धा करने वाले और जिस पर श्रद्धा की गई है उन दोनोंकी हानि ही होती है। अन्ध श्रद्धा वाला योग्य अयोग्यको समझ नहीं सकता इसलिये उसको सत् उपदेश नहीं मिलता। श्रद्धाके पात्र न होते हुये दूसरों से श्रद्धा कराने वाले स्वयं अयोग्य हैं और अविवेकियोंके सन्मान करनेसे वे अपनेको पूज्य और सिद्ध मान बैठते हैं इसलिये उनकी अयोग्यता नहीं जाती और न वे योग्य हो सकते हैं, अभिमानके मारे अंध हो जाते हैं, दूसरोंकी अंध श्रद्धा उनको भी अन्ध बना देती है। इस

प्रकार अन्ध श्रद्धासे दोनोंका ही अहित होता है; हित एकका भी नहीं होता। आज कल लोग साधुओं की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि आर्यावर्तमें बावन लाख हरामखोर हरामका खा रहे हैं वे आर्यावर्तके लिये बोझा रूप हैं। इस प्रकार होने का हेतु अंध-श्रद्धा ही है। अंधश्रद्धा सज्जनोंको भी दुःखका हेतु होती है। शास्त्र में जो भिक्षा की विशेष महिमा वर्णन की गई है, वह महिमा वास्तविक भिक्षाकी है, अवास्तविककी नहीं है। अबुद्ध मनुष्य जो किंचित् मात्र भी श्रद्धा नहीं करता उसको श्रद्धा में लगनेके लिये ऊपर के वेषमात्र पर श्रद्धा करना फलदायक है परन्तु बुद्धि होते हुये, व्यवहार में बुद्धि का उपयोग करते हुये, पात्रकी योग्यता में बुद्धिका उपयोग न करना सबको हानिकारक है। केवल ऊपरके वस्त्रादिक देखकर मान करने का यह परिणाम होता है कि वस्त्र-धारी, तिलक छापोंसे अलंकृत अविवेकियों की जमात पर जमात बढ़ती ही चली जाती है। उनसे न तो अपना हित होता है, न दूसरे का हित होता है इसलिये पात्रापात्र के विचार सहित ही सन्मान करना योग्य है।

जैसा लोगों का हाल है इसी प्रकार वेषधारियोंका हाल है। जब कोई भारी रंज हुआ, धन सम्पत्तिका नाश हुआ, स्त्री मर गई, कीर्ति चली गई; तुरंत बन गये बाबाजी! कोई अपराध करके जेलमें पहुँचे, सजा काटकर लौटे, घर पर जानेमें शर्म लगी, बन गये संन्यासी या वैरागी! देखो, मजदूरी करनी पड़ती है, माल खानेको नहीं मिलता, तुरन्त ले आये धेलेका गेरू, रंग डाले कपड़े! जो

जगत्का कार्य करनेमें ही असमर्थ हैं, भला! वे साधु बन कर अपना या दूसरोंका हित क्या करेंगे? परमतत्त्वको जानना कोई सहज बात नहीं है, बहुत सूक्ष्म और शुद्ध बुद्धिसे होने वाला कार्य है तो मोटी बुद्धिवाला, जिसे काला अक्षर भैंस बराबर है, जिसने शास्त्रका नाम तक नहीं सुना, जिसकी अनेक प्रकारकी प्रपंचकी कामनायें निवृत्त नहीं हुई हैं, ऐसा मूढ़ परम मार्गमें चलनेके लिये किस प्रकार समर्थ होगा। जिसके पास कुछ है नहीं, कपड़ा रंग लेनेसे, वेष बना लेनेसे त्यागी किस प्रकार कहा जाय ? उसने त्यागा क्या है ? त्यागनेका उसके पास था ही क्या ? जिसके पास कुछ व्यवहारिक ऐश्वर्य हो, यदि यह वैराग्यसे उसका त्याग करे, और आन्तरमें त्यागका भाव बना रहे, फिर प्राप्तिमें भी त्यागका भाव पलट न जाय तब ही वह त्यागी कहला सकता है। यदि यह कहा जाय कि बाहरकी वस्तुयें-सम्पत्ति उसके पास न थीं इसलिये उसने भीतरसे त्याग किया है तो यह भी बन नहीं सकता क्योंकि मूढ़, मोटी बुद्धि वाला भीतरके त्यागको समझता ही नहीं तो करेगा क्या? जिसने वैराग्यसे भीतर का त्याग किया है, उस का बाहरका त्याग हो या न हो तो भी वह त्यागी कहलानेके योग्य है, सूक्ष्म बुद्धि विना और बुद्धिकी शुद्धता विना आन्तरिक वास्तविक त्याग बहुत दुर्लभ है, परम विवेकी पुरुष ही ऐसा त्याग कर सकता है। ऐसा त्यागी चाहे वेषधारी हो चाहे वेष रहित हो, व्यवहारिक मनुष्यों को पूज्य है, ऐसा करनेसे उसका और व्यवहारिक मनुष्योंका हित ही होता है। यदि वह पठित हो

तो उससे औरोंका भी भला होता है और सामान्य हो तो उसका भला तो होता ही है।

कई तो शिर पर भारी जटायें रखते हैं। पंचकेश रखना या न रखना यानी मुण्डन न कराना और कराना दोनों ही प्रकार के विधान शास्त्र में हैं। जटा रखाने के हेतु हम सिद्ध हैं, हम तपस्वी हैं, हमको सब पूजो, ऐसा नहीं है; किन्तु जटा वाले प्रायः आज कल एक वेषके रूपसे ही जटा रखते हैं। पेटके भरण पोषण और अनेक प्रकारकी कामनाओंकी तृप्तिका भाव होता है। ऐसे जटाधारी एक प्रकारके ठग ही है। जैसे ठग अपना कल्याण नहीं कर सकते तो दूसरोंका हित तो उनसे होगा ही कहांसे, ऐसे ही इन लोगोंको भी समझना चाहिये। वास्तविक तो अज्ञान की बढ़ी हुई जटाओंका उतार देना है, उसके बदले अज्ञानकी लटें बढ़ाये ही जाते है। बटका वृक्ष भी भारी जटायें धारण करता है, इससे उसका कल्याण समझना मूर्खता है। इसी प्रकार जटा धारण करके 'हम सिद्ध हुये है, हमारा कल्याण हो चुका है' ऐसा समझना भी पूर्ण मूर्खता है। बिना ज्ञान केवल बाल बढ़ानेसे मुक्ति नहीं होती। कोई तो बाल छोटे हों तो नकली बाल धारण करते हैं जो ऐसा नकली जटाधारी है, वह वास्तविक ही नकली है, असली नहीं है। जटा रहने देनेका अर्थ यह है कि कुदरती हालत-समानतामें रहें। यह भाव नकली अथवा मूढ़ जटाधारियोंमें नहीं होता। जटा रखनेसे और भी फायदे हैं:—मस्तक शांत रहता है, वीर्य जल्दी स्खलित नहीं होता परन्तु आंतरकी शुद्धता बिना ज्ञान और

ज्ञानके भाव विना केवल जटा रखनेसे कुछ फल नहीं है। ऐसे ही मुंडन करानेवाला—शिर आदिक के बालों को उतार देने वाला केवल मुंडन से ही यदि अपनेको कृतकृत्य समझे तो पूरी मूर्खता है। मुंडन आदि आश्रमके धर्म हैं परन्तु केवल बाहरके धर्मसे कार्यकी सिद्धि नहीं होती। ऐसे ही बालोंको नोंचवा डालने वालों, भगवां वस्त्र धारण करने वालोंका, सब ढोंग-वेष केवल उदरपूर्णाके निमित्त है। जैसे बहुतसे लोग अनेक प्रकारके स्वांग बना कर कमाई करते हैं इसी प्रकार ये भी धर्मके नामका स्वांग धारण करके कमाई करने वाले हैं। लोग भी कैसे मूर्ख हैं कि बहुधा ऐसोंको देख कर भी विचार विना श्रद्धा कर बैठते हैं। इससे सिद्ध होता है कि लोग देखते हुये भी अंधके समान नहीं देखते। अथवा वेषधारियोंकी करतूतको जानते हुये भी यह लोग ठगाई करते हैं, ऐसा समझते हुये भी अज्ञानता से लोग उनमें जाकर मिल जाते हैं, इसीलिये वेष लेते हैं और जो कार्य वेषधारी करते हैं उसको करने लगते हैं। धर्मके नामसे अधर्ममें प्रवर्त होता है, ऐसा करना भी देखते भालते, जानते बूझते अंधा बनना है। जगतको छोड़ा तो क्या ठगाईके निमित्त छोड़ा? इससे तो हितके बदले अहित ही होता है, जो ठगाई ही करनी थी तो संसार के स्वरूप से ही हो सकती थी! भोले मनुष्यों को ठगनेके लिये धर्म का वेष को प्रबल समझ कर धारण करने वाले को क्या कहा जाय! वह तो परिपूर्ण मूढ़ और ठग है ही, परन्तु जो अज्ञान से फँस जाते हैं और न चाहते

हुये भी उसी कार्य में प्रवर्त होते हैं, उन्हींका शोक है। :

भोगीपुरा नामका एक ग्राम है, सुना है कि वहांके रहने वालोंमेंसे कई अनेक प्रकारका साधुका वेष बना कर दूर दूर देशोंमें जा कर लोगोंको ठगते हैं, ऐसा ही कोई एक बनावटी परमहंस बन कर विचरता हुआ प्राचीन कुन्दनपुर शहरके पासके ग्राममें पहुंचा। उसने सुन रक्खा था कि कुन्दनपुरके राजा रानी बड़े धार्मिक हैं, साधु संतों को भक्ति सहित पूजते हैं, धन, माल और जागीरादिक भी भेंट करते हैं और जो कोई परमहंस नग्नावस्थामें होता है उसे तो साक्षात् ईश्वर ही समझते हैं, उसके ऊपर अपने प्राण और राज्य निछावर करने तककी श्रद्धा रखते हैं। बने हुये ठगने सोचा "मौका अच्छा है, मैं बहुत घूमा हूँ, परन्तु आज तक कोई सोनेकी चिड़िया हाथमें नहीं आई! हां' मैंने बहुत सा माल जमा करके अपने स्थान पर भेजा है परन्तु यदि ये राजा रानी वश हो जांय तो मेरा काम पूरा हो जाय" ऐसा विचार कर जो कुछ माल असबाब और अच्छे अच्छे वस्त्र उसके पास थे, उनको उसने अपने देश भिजवा दिया। शिरकी जटा और अन्य स्थानोंके बाल तो उसने बढ़ा ही रक्खे थे इसलिये परमहंस बन जानेमें उसे कुछ विलम्ब न लगा। लंगोटी फैंक दी, कोई पात्र भी पास न रक्खा और अंधेरी रात्रि में चल कर कुंदनपुरकी उत्तर सीमा प्रांतमें एक छोटी नदी के किनारे एक पेड़के नीचे आसन लगा कर बैठ गया। नेत्रोंको मूंद कर चुप चाप बैठारहा। सुबह होते ही लोग आने जाने लगे। राजा रानी भक्ति वाले होनेसे शहरमें

भी भक्तिका प्रभाव कुछ बढ़ गया था। लोगोंने दिगम्बर स्वरूप परमहंसको देख कर प्रणाम किया, कोई 'नमो नारायण' कहने लगा परन्तु कुछ उत्तर न मिला! जो कोई आता था प्रणाम करता, कोई अनेक प्रकार के प्रश्न करता, जिससे महात्माजी कुछ बोलें परन्तु जब महात्मा ने चूं चां कुछ भी नहीं की तब लोग अनेक कल्पनायें करने लगे। कोई कहने लगा मौनी हैं विशेष मत छेड़ो! किसीने कहा, पूरा संत है! दूसरा बोला परमहंस हैं! इनको अपने पराये का बोध नहीं है! कोई और बोला ठीक, यह तो विदेहमुक्त दीखते हैं! आजतक बहुत से संत महात्माओं के दर्शन किये हैं परन्तु यह मूर्ति तो अलौकिक है, ऐसी मूर्ति कभी मेरे देखने में नहीं आई! इस प्रकार जो जिसकी मर्जी में आता था, कहता था, किसी को भी यह खयाल नहीं हुआ कि यह कोई पक्का ठग है! जो जो नये साधु शहर में आते थे, उनके आने की खबर राजाके मनुष्य राजदरबार में पहुंचाया करते थे। इन लोगों ने इसके आनेकी खबर राजदरबार में पहुंचाई, बहुतसे और मनुष्योंसेभी राजाको यह खबर मिली राजा रानी दोनों महात्माजीके दर्शनके निमित्त तीसरेदिन इस स्थानपर आये। दो दिनसे सैकड़ों मनुष्यों का जमघट वहां बना रहता था। महात्मा जी दिन भर कुछ खाते नहीं थे! बरफी, पेड़े, मलाई, रबड़ी, दूध, हलुआ, जलेबी आदिक बहुतसी वस्तुयें महात्माजीके पासआई हुई पड़ी रहतीथीं! रात्रिमें उठकर महात्माजी इच्छानुसार खा लेते थे। दिन भर आंखें मूंदे हुये बैठे रहते थे।

लोगोंने देखा कि जब राजा रानी दर्शन करनेको आये, तब भी महात्माजीने नेत्र न खोले ! राजा रानीने दंडवत् प्रणाम किया। राजाके मनुष्यों ने एक गलीचा बिछा दिया, राजा रानी उस पर बैठ गये। राजाने प्रथम गलीचे पर बैठनेसे इनकार किया परन्तु जब रानीने ऐसा कह कर आग्रह कियाकि हमतो महात्माजीके बाल बच्चे हैं तब रानी के आग्रह करने से राजा गलीचे परबैठ गया। राजा रानी दोनों सन्तसेवी थे परन्तु अन्धश्रद्धा वाले नहीं थे, योग्यको योग्य मान देते थे दोनोंने महात्मा जी के सर्वांग को निहारा परन्तु किसी प्रकारका निश्चय न कर सके राजाने रानी से कहा, हे प्रिये ! यह परमहंस सन्त हैं, किसी से बोलते चालते नहीं, अपने पराये का भी इनको भान न होगा, हमलोग इनकी सेवा किस प्रकार करें ? इतना कह कर महात्माजी की तरफ देख कर हाथ जोड़ कर कहा, महाराज ! कृपा कर आप राजमहलमें पधारिये, हम लोगों का नित्यप्रति ऐसे स्थान पर आना कठिन है, आपने परिश्रम करके जब हमारे शहरको पवित्र किया है तब महलको भी पवित्र कीजिये, हमारा धन्य भाग है कि आप जैसे पूर्ण महात्मा की टहल हमसे कुछ बन जाय ! महात्माजी कुछ न बोले, मुखकी वृत्ति तक भी न बदली ! रानी बोली महाराज ! हमारी सेवा स्वीकार कीजिये मैं अपने हाथसे आपको भोजन कराऊंगी ! महात्माजीकी तरफसे हां-ना; किसी प्रकार का उत्तर न मिला ! राजाने पालकी लानेको नोकरों को आज्ञा दी। पालकी आगई, दोमनुष्योंने महात्माजीको

उठा कर पालकी में बैठा दिया। राजा रानी और महात्मा राज महल में पहुँचे।

रानी पूर्णभक्ति वाली, योग्य अयोग्य को समझने वाली और चतुर थी। महात्मा के दर्शन करने से जो आंतरिक आह्लाद होता है वह न होने से पूर्ण निश्चय न कर सकी परन्तु सेवा करने में कसर न रक्खी। प्रथम दिन रानी ने अपने हाथ से सब शरीर मल कर गरम जलसे महात्मा को स्नान कराया। रानीके हाथका स्पर्श होने से महात्मा ने खोल कर देख लिया। अब तो वह कभी नेत्र खोल देते थे कभी बन्द कर लेते थे। रानी ने स्नान करा कर, ईश्वर समझकर, पूर्ण प्रेमसे पूजन किया, चन्दन और पुष्पमाला धारण कराई, अनेक प्रकारके व्यंजन जो राजवंशियों का नित्य का ही भोजन है चांदीके थालमें महात्माजी के सामने रक्खा गया और खाने की प्रार्थना की गई। महात्माजी ने अपने हाथ से न खाया, ऐसा देखकर रानी अपने हाथमें ग्रास ले लेकर खिलाने लगी, महात्मा खाने लगे! जब पेट भर गया महात्मा ने ग्राससे मुख हटा लिया, जल पिलाया गया, मुख धोया गया, महात्मा सोचने लगे "अब तक तो सब मामला ठीक ठीक है, एक बातकी कसर है, उसमें उत्तीर्ण होगया तो बेड़ा पार है! परम-हंसको टट्टी पेशाब का भी कुछ ख्याल नहीं होता, उसकी दूसरी दृष्टि नहीं होती, इस कार्यको भी कर लेना चाहिये!" ऐसा विचार कर महात्माजी पेशाब करने लगे। पेशाव की धार रानी के ऊपर पड़ी! रानी किंचित् भी खिन्न न हुई, उसी क्षण थोड़ा सा पेशाब

हाथमें लेकर फुर्तीसे महात्माजी के मुखकी तरफ ले गई ! महात्मा ने स्वाभाविकता से तुरन्त ही मुख फेर लिया ! यह देखकर रानीने एक तमांचा लगाया और नोकरोंको आज्ञा दी "यह ढोंगी है, इसको मेरे पास से दूर ले जाओ, राजा को इस बातकी खबर करो और राजा जैसी आज्ञा दें वैसा करो !" राजा आया और उसे कैदमें रखनेकी आज्ञा दी और यह भी आज्ञा दी कि तीन दिन तक उसे भोजन न दिया जाय ! और जेलखानेमें वह क्या करता है, यह जानने को राजाने एक गुप्तचर नियत किया । महात्मा दो दिन तक तो दुःखी होते हुये भी चुप रहे. तीसरे दिन चुप न रहा गया, अपने कर्मको दोष देते हुये कहने लगे "मैं तो अपना हित करनेको गया था, चतुर रानीने मेरा सब छल जान लिया, अब भूखे मरने का ही समय आया है, मैं तो समझता था कि राजा रानीका गुरु बनकर बहुत धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करूंगा परन्तु सब बात उलटी होगई ! अब किसी प्रकार जान बचे तो ही खैर है, किसी प्रकार राजा यहां आजाय तो अच्छा है !" तीसरे दिन राजा उसे देखने आया और बना हुआ माहात्मा हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा "अन्नदाता ! मैं गरीब मनुष्य हूँ, परमहंस नहीं हूँ, मेरी भूल माफ कीजिये, मुझको जीवदान दीजिये, खोराक विना मेरा बचना कठिन है !" राजाने कहा "दुष्ट ! इस प्रकार तू सबको ठगता है, कुछ धन्धा न सूझते हुये ईश्वरके नामसे ठगबाजी करता है, तुझे पूर्णशिक्षा मिलनी चाहिये ठगों को शासन देना मेरा धर्म है, मैं तुझे एक साल की सख्त

मजूरी सहित कैदखाने की सजा करता हूँ, जो खोराक कैदियोंको मिलती है, वह ही तुझे मिलेगी।" ऐसा कहकर राजा चला गया। इस प्रकार ठगई करने वालेको इस जगत्में और उस जगत्में कष्टकी ही प्राप्ति होती है। ऐसे ठगोंसे बचते रहना चाहिये।

जगत् एक गडरिया प्रवाहके समान बह रहा है। देखा देखी करने लगते हैं, विचार सहित कार्य करने वाले बहुत कम हैं। जो शास्त्रकी रीतिके अनुसार वर्णाश्रम धर्मका ठीक ठीक पालन कर रहे हैं उनके लिये कुछ कहना नहीं है. परन्तु केवल पेटके लिये ही जो प्रपंच किया जाता है, वह सबको हानि पहुँचाने वाला है। वेष बनाकर प्रपंच करने से मनुष्य-जन्मकी सिद्धि नहीं होती, दुःख ही होता है। ब्रह्मचारी अथवा वैरागी बन कर पंच-केश रख लिये, इससे क्या हुआ? कुछ नहीं। बाबाजी बनकर मस्तकका मुण्डन करा डाला, तब भी क्या हुआ? कुछ नहीं। शिर से केश के खिंचवा डालने की वेदना सही तब भी क्या हुआ? सफेद वस्त्र निकाल कर भगवां वस्त्र धारण करने से क्या हुआ? कुछ नहीं। जब तक ईश्वर भजन, ईश्वर ज्ञान न हो तब तक सब वृथा है। आंख से देखते हुये इस प्रकार बन जाना अन्धा बनना ही है!

केवल वेष पर श्रद्धा, तिलक छापों पर श्रद्धा, बिना योग्यता भगवां वस्त्रों पर श्रद्धा दोनों को दुःख देने वाली होती है। जब श्रद्धा के योग्य पर श्रद्धा की जाती है तब ही शुभ फल होना सम्भव है। इसका एक दृष्टान्त इस प्रकार है:—

एक साहूकार था, वह अपने व्यवहारमें तो बहुत चतुर था परन्तु धर्म के विषय में अन्धश्रद्धा युक्त था। विना विचार किये धर्मके नामसे बहुत लम्बी २ दण्डवत करता था। धर्मके नामसे ठगाई करने वाले उसे ठग लिया करते थे। एक मज़ाकखोर मनुष्य जो उसके पास रहता था; उसने एक दिन विचार किया:— "साहूकार चतुर बहुत है परन्तु श्रद्धा में पूरा अन्ध है, उसको अन्ध श्रद्धाका फल चखाना चाहिये। तिलक छापे वालोंको बहुत मानता है, चाहे कोई भी हो, जो तिलक छापे लगा लेता है, उसको वह ईश्वर समझता है, मैंने कई बार समझाया भी है कि सेठजी श्रद्धा अवश्य करो परन्तु योग्यता सहित करो, परन्तु उसका निश्चय है कि तिलक छापेवालों पर श्रद्धा करने से, उनको दण्डवत् करने से, खिलाने पिलाने से ही मुक्ति है। आज मैं कुंभारके यहां जाकर एक खेल करता हूँ, देखूं क्या होता है।" ऐसा विचार कर वह मनुष्य कुछ रोली घोलकर कुंभार के यहां गया। वहां जाकर उसने एक गधे के लम्बे चौड़े तिलक लगाये। साहूकार नित्य एक मन्दिर में दर्शन करने जाया करता था, उस मनुष्यको उसके जानेका समय मालूम था। जब साहूकार दर्शन करने जारहा था तब वह मनुष्य गधे को लाठी मारता हुआ साहूकारके सामने ले आया! साहूकारने ज्यों ही गधे को तिलक छापे लगाये हुये देखा तो दूर से ही हाथ जोड़कर नमस्कार करने लगा। गधा पास आता जाता था, साहूकार नमस्कार पर नमस्कार करता जाता था और बोलता जाता था "आप महा

वैष्णव हो, हलकी जातिमें हो कर भी वैष्णवके चिन्ह से अंकित हो यह आपकी विशेषता है ! आप श्रीमान् के दर्शन से मैं भी कृतार्थ हो रहा हूँ !" इस प्रकार कहता हुआ, हाथ जोड़े हुये गधेके सामने जा रहा था। गधा लाठियां खाकर भागा हुआ आ रहा था, साहूकार को हाथ जोड़े हुये देख कर समझा कि यह भी मुझे मारने को आ रहा है, ऐसा समझ वह घूम गया और साहूकार के दो तीन लातें मार कर भाग गया। साहूकार जमीन पर गिर गया। उस मनुष्य ने आकर साहूकार को उठाया और कहा, क्या हुआ ? साहूकार चुप ! क्या बोले ? अन्त में कहने लगा, एक वैष्णव को हाथ जोड़ रहा था, उसने पिछले पैरों-की ठोकर से गिरा दिया ! वह मनुष्य खूब हंसा और कहने लगा, वह वैष्णव कौन था ? मैंने तो एक तिलक छापे लगाये हुये गधा देखा था। सेठ जी, वैष्णव कोई मनुष्य होता है या गधा भी होता है ? गधों में विशेष बुद्धि नहीं होती, यह गधा तो बहुत बुद्धिशाली दीखता है क्योंकि उसने आपको उपदेश दिया है। कहीं तिलक लगाने से गधा भी वैष्णव होता होगा ! अब किसी पर श्रद्धा करो तो विचार कर करना, मैं तुम्हें घर पहुंचाये देता हूँ। इतना कह कर वह मनुष्य साहूकार को घर लेगया, कुछ दिनों दवा करने से साहूकार आरोग्य हुआ।

सबका सारांश यह है कि यदि किसी को तीव्र वैराग्य हो और वह उच्च आश्रम ग्रहण करना चाहता हो तो उसे योग्य पुरुष के समागम में आना चाहिये, योग्य से ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये,

विना विचार गड़रिया प्रवाह में गिरना न चाहिये, इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहते हुये योग्य को सन्मान देना उचित है, अयोग्य को सन्मान देने से दोनों का अहित ही होता है, धर्म का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, उसमें शुद्ध बुद्धि से कार्य लेना चाहिये, यद्यपि तुरंत ही लाभ हानि नहीं दीखती तो भी सज्जन से लाभ ही होता है और दुर्जन, प्रपंची, पेट मात्र भरने वाले से हानि ही होती है, यह कलिकाल है, इस कलिकाल में कहने मात्र के साधुओंकी वृद्धि है, और वास्तविक साधु बहुत कम हैं, इसी प्रकार सच्चे पर सच्ची श्रद्धा करने वाले भी कम हैं झूठों पर लोभ वश श्रद्धा करने वाले बहुत हैं, ऐसे लोग अपना हित नहीं कर सकते, आचार्यश्री का कहना है कि सब देखते हुये भी अंधे हो रहे हैं, इसी का हमको शोक है क्योंकि हम सबका हित चाहते हैं और यहां विपरीत दीखता है, अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, ईश्वर की भक्ति से जगत के प्रेम की निवृत्ति होती है, यह मूल सिद्धान्त है, इसके सिवाय सब उदर पूर्ण का ही ढंग समझना चाहिये।

वयसि गते कः काम विकारः
शुष्के नीरे कः कासार।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥७॥भज०

अर्थः—अवस्था चली जाने पर काम विकार नहीं रहता, पानी सूखने पर तालाब नहीं रहता, धन चले जाने पर परिवार

नहीं रहता यानी धनके कारणसे ही परिवार पीछे लगा रहता है, धन न होनेसे होता हुआ परिवार भी कहां है ? तत्त्वके जानने से संसार नहीं रहता । गोविन्दका भजन कर ।

आयु नशे क्या काम विकारा ।
जल सूखे सर में क्या सारा ॥
द्रव्य नशे पर क्या परिवारा ।
तत्त्व लखे पर क्या संसारा ॥ ७ ॥ भज०

जितना जो कुछ कार्य अथवा विकार होता है सब देश, काल और अवस्थाके साथ होता है, उनमें अन्तर पड़नेसे कार्य अथवा विकार नहीं होता । जगतमें अवस्था, विकार, सूक्ष्म, स्थूल भावादिक जितने पदार्थ हैं, सब ही परिवर्तन वाले हैं, कोई भी हमेशा एक अवस्था में रहने वाला नहीं है, चाहे वे विकार को प्राप्त होते हुये मालूम न हों तो भी एक हालत में नहीं रहते, संसार चला चलीका तमाशा है; इसलिये उसमें प्रत्येक विकारी ही है । जिसके आरम्भ में ही विकार है, जिसका विकार ही स्वरूप है, ऐसे अज्ञान-अविद्यामें कोई विकार रहित कहां से हो ? इसी कारण तत्त्वज्ञानियों ने संसार और तत्त्व का निर्णय करके संसार को तुच्छ, असत्य ठहराया है । जिसमें हमेशा विकार और नाश हुआ करता है, ऐसा संसार जिसमें प्रतीत हो रहा है, वह तत्त्व ही विकार रहित है । जब तक संसार के सत्यपने का भान है तब तक अज्ञानियोंको प्रत्यक्ष परम तत्त्व भी अप्रत्यक्ष हो

रहा है किन्तु तत्त्वज्ञानियों को संसार नहीं रहता, इसको सम-झानेके निमित्त तीन प्रकारकी उपमा देकर समझाया गया है।

कामका विकार सब विकारोंसे प्रबल है। कामना करके ही संसार है। जो शरीर संसार में पैदा होता है, उसके उत्पत्ति स्थान में कामका संस्कार ही है इसलिये उसका निवृत्त होना भी कठिन है। लोभ, मोह, मद आदि बलिष्ठ हैं तो भी उन सबका मूल तो काम ही है। स्थूल शरीर रहते हुये काम विकार का निवृत्त होना किसी महापुण्यवान् प्रयत्नशील तत्त्वज्ञानी को ही होता है। जब तक कामका विकार अन्तःकरण में से समूल नाश न हो तब तक मोक्षकी आशा ही व्यर्थ है क्योंकि संसारका बीज कामना ही है, कामना रहते हुये मोक्ष किस प्रकार हो? काम इतना प्रबल होते हुये भी देश, काल और अवस्था से सम्बन्ध वाला है, उनमें से भी अवस्था से कामका विशेष सम्बन्ध है, यदि अवस्था योग्य न हो तो देश काल कुछ कर नहीं सकते। एकांत देश काम विकारका देश है, रात्रिका काल काम विकार के अनु-कूल है और काम विकार की मुख्य अवस्था युवावस्था है। जब अतिवृद्ध होजाते हैं तब शरीर की सब धातुयें क्षीण—निस्तेज हो जाती हैं, इस समय काम विकार नहीं रहता। यहां काम विकारका न रहना जो बताया है, वह स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध ला है, मानसिक काम विकार तो शरीर जीर्ण होने पर भी नहीं जाता। मानसिक काम विकार की निवृत्ति तत्त्व ज्ञान के विना नहीं होती। ऊपर कहा है कि अवस्था चली जाने पर

काम विकारकी शक्ति नहीं रहती उसका मतलब यह है कि युवावस्था चली जाने पर और वृद्धता के बाद अतिवृद्ध होने पर शिथिल शरीरमें काम विकारका स्थूल स्वरूप नहीं होता। ऐसे ही बाल्यावस्था भी जो पूर्व जन्मकी सब अवस्था चली जानेके बाद प्राप्त हुई है, अविकसित अवस्था होनेसे उसमें भी काम विकार नहीं होता। जैसे अंधेको देखनेकी इच्छा हो तो भी वह देख नहीं सकता, गूंगेको बोलनेकी इच्छा हो तो भी वह बोल नहीं सकता, इसी प्रकार जिसके शरीरकी शक्ति चीण हो गई है, ऐसे वृद्धका मानसिक काम विकार भी निष्फल है, कामका विकार मनका धर्म है, मनका सम्बन्ध स्थूल शरीरसे है। जब स्थूल शरीर दृढ़ नहीं होता तब मन भी दृढ़ नहीं होता, तो मनसे होने वाला काम विकार भी किस प्रकार हो? सब प्रकारकी इच्छाओं का समावेश काम विकारमें है। जैसे मरणोन्मुख हुये मनुष्यको सुन्दर युवान कन्या के साथ शादी करने का विचार होना असंभवित है, इसी प्रकार अति चीण वृद्धावस्थामें कामका विकार होना भी असंभवित है। अवस्था न होनेसे काम विकार प्रतीत नहीं होता, इससे ऐसा न समझ लेना चाहिये कि उसमेंसे काम विकार समूल निवृत्त होगया है क्योंकि यद्यपि उस समय प्रतीत नहीं होता किंतु दबा हुआ है। जैसे अवस्था जानेसे काम विकार चला जाता है ऐसे ही परमतत्त्वके बोध से संसार भी चला जाता है।

दूसरी उपमा तालाब में जल नहीं होनेकी है। जिस करके

जिसकी स्थिति है, यदि वह न हो तो उसका नाम ही व्यर्थ है, जिस प्रकार चैतन्यकी विशेषता रहित मुरदा शरीर नाममात्रका मनुष्य है इसी प्रकार जिस तालाबमें जल नहीं है, वह नाम मात्रका ही तालाव है वस्तुतः तालाव नहीं है, यद्यपि उसकी आकृति देख कर कोई उसे तालाव कहे तो भी वह तालाव नहीं है क्योंकि जलसे ही तालाव होता है, यदि जल नहीं तो तालाव कहां ? नहाना, धोना, जल पीना आदिक कार्य तालावसे होते हैं, जिससे वे कार्य न हों, वह तालाव होते हुये भी तालाव नहीं है। जैसे सूखे वृक्षको पक्षी त्याग देते हैं ऐसे ही सूखे तालाब को मनुष्य और अन्य प्राणी त्याग देते हैं। सूखा वृक्ष नाम मात्र का वृक्ष है, क्योंकि उसमें न फल हैं, न पत्ते हैं, न छाया है और न शीतलता ही है, यह ही हाल सूखे हुये तालावका है, सूखे हुये तालावको वास्तविक तालाव कोई भी नहीं कह सकता। जबसे तालावका जल सूख गया है तबसे वह मात्र गड्ढे वाली पृथ्वी ही है।

एक बार एक संतके पास पांच विलक्षण मनुष्य पहुंचे। यद्यपि उन पांचोंका पहुंचना असंभवित सा है तो भी किसी प्रकार पहुंच गये, वे पांचों ही एक २ अङ्गसे खंडित थे और खंडित हुये अङ्गसे उत्पन्न हुये विशेष सामर्थ्यका चंचलता और मिथ्या चतुराईमें उपयोग करते थे, उनमेंसे एक तो एक आँखसे काना था, दूसरा दोनों आंखोंसे अन्धा था, तीसरा अति वृद्ध था, चौथा दोनों पैरोंसे पंगु था और पांचवां नपुंसक था। ऐसे

विचित्र पांचों पुरुषों को नमस्कार करते हुये देख कर संत को पंचप्रकृति की विलक्षणता का ख्याल आया। कुछ बातचीत के बाद सन्त को मालूम हुआ कि वे पांचों ही चालाक हैं। सन्त के पास ज्ञानचर्चा हुआ करती थी, अन्य कोई चर्चा वे अपने सामने होने नहीं देते थे। जब वे पांचों सन्त के पास बैठे तब सन्त ने कहा, देखो, जगत् दो २ भाव से है इसलिये जगत् में अशांति है, जो समानता से देखता है, एक ही दृष्टि से सबमें एक तत्त्वको देखता है, वह समतत्त्व को प्राप्त होने के योग्य होता है। काना बोल उठा "महाराज, आपका कथन सत्य है, मैं जन्म से ही सब को एक आंख से देखता हूँ, किन्तु अभी तक मेरा मोक्ष नहीं हुआ! कृपा करके आप कहिये, मुझे समतत्त्व की प्राप्ति कब होगी?" सन्त उसके व्यर्थ वाक्य को सुन कर बोले; शुक्राचार्य जी! सच है परन्तु एक आंख फूट जाने से कोई एक दृष्टि से देख नहीं सकता। जब बाहर की दोनों ही आंखें फूट जाती हैं तब आंतर का तीसरा नेत्र खुल जाता है, उस नेत्र से समदृष्टि होती है, तू तो दोनों नेत्रों से देखता है देखना बहुत चाहता है परन्तु तेरे पाप कर्म ने तेरी एक आंख प्रथम से ही छीन ली है! तू एक आंखसे देखता हुआ भी अनेक भावोंसे देखता है, तेरे लिये मोक्ष दूर है! प्रथम अपने पापों की निवृत्ति कर। अन्धा बोला "महाराज! मेरी तो दोनों ही फूटी हुई हैं, मैंने जन्मसे ही संसार को नहीं देखा, मैंने सन्त महात्माओंसे सुना है कि संसार मायाका है, संसारको देखनेसे ही विकार उत्पन्न होता है। मैंने कभी संसारको

नहीं देखा, अब मेरे लिये परमात्मा के ज्ञान होने में कितनी देरी है ?" संत इस विचित्र प्रश्नको सुन कर कुछ विचारने के बाद बोले सूरदासजी! सच है, आपने संसारको नहीं देखा किंतु जन्मांध होने से आपका न देखना परवश है। संसार न देखनेसे परमात्मा नहीं दीखता, संसार न देखते हुयेभी आपने अपने संसारको बहुत चौड़ा बना रक्खा है। नेत्र इन्द्रिय बाहर देखनेमें असमर्थ होनेसे आप हाथसे टटोल कर ही सब संसारको जानते हो, संसार रूप कीचड़में बारम्बार फंस रहे हो, पापका फलरूप ही आपकी दोनों आंखें फूट गई हैं, इस पापके फलको प्रथम भोग लो तब कहीं परमात्मा की तरफ वृत्ति होगी। क्या परमात्मा को भी आपने हाथसे टटोल कर जाननेका पदार्थ समझा है ? अनेक प्रकारकी इच्छायें तुममें भरी हैं और मैं समझता हूँ कि कामका विकारभी तुममें बहुत है। तीसरा अति वृद्ध बोला "महाराज ! अब मैंने कामको जीत लिया है, काम का विकार अब मुझमें नहीं है, मैंने सुना है कि जिसको काम विकार होता है उसीका जन्म होता है, जिसका काम विकार निवृत्त होजाता है, उसको जन्मनेका कोई हेतु नहीं रहता, अब फिरसे मेरा जन्म होना न चाहिये, क्या यह ठीक है ? आप कृपा कर कहिये।" सन्त बोले, रे मूर्ख ! अति आयु वृद्ध ! बुढ़ापे नें तेरी बुद्धि मारी गई है ! स्थूल रूपसे काम विकार होनेका तेरे शरीरमें सामर्थ्य ही कहां है ? तेरा मन तो काम विकार से रहित नहीं है, जन्मका हेतु सूक्ष्म कामना है, सब सूक्ष्म कामनायें तुझमें मौजूद हैं, झूठा बकवाद छोड़कर

जितना तुझसे बने उतना ईश्वरका भजन कर। अब तुझसे योग, उपासना आदिककी विशेष क्रियायें नहीं हो सकतीं, ज्ञानका भी तू अधिकारी नहीं है क्योंकि ज्ञानके लिये निर्मल सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता है, तेरी बुद्धि ऐसी नहीं है, चांडाल चौकड़ीके साथ मिलकर शेष अमूल्य समयको व्यर्थ क्यों खोता है? पंगु बोला "हां, महाराज! ज्ञान भक्ति बहुत कठिन है। अहिंसा आदिक धर्मों का जितना पालन किया जाय उतना ही अच्छा है, चलने फिरनेसे अनेक प्रकारके जीव जन्तु मरते हैं, उनकी हिंसाका दोष कम नहीं है, ऐसा समझकर मैंने पृथ्वी पर चलना छोड़ दिया है, अब मुझे हिंसाका दोष तो लगेगा ही नहीं, ठीक है न महाराज!" सन्त बोले, रे मूर्ख! दोनों पैर चले गये, फिर भी तू अपनी कुटिलताको क्यों नहीं छोड़ता? तुझे हिंसाका दोष दूसरों से दूना लगना चाहिये क्योंकि दूसरे तो दो पैरोंसे ही चलते हैं और तू तो चार और आठ पैरोंसे चलता है, कभी घोड़े पर चढ़ कर, कभी गाड़ीमें बैठकर दौड़ा फिरता है। जितने पैर विशेष उतनी ही हिंसा विशेष! पशु तेरे लिये चलते हैं, उनमें विशेष बुद्धि नहीं है इसलिये उनके दोषका भागी भी तू ही है। मैंने सुना है कि तू श्रीमान् होनेसे लम्पट भी है, लम्पटपनेका दोष सब दोषोंका शिरोमणि है; प्रथम इस दोषकी निवृत्ति कर। फिर पांचवां नपुंसक बोला "महाराज! आपने सच कहा ब्रह्मचर्यके समान कल्याण करनेवाला कोई नहीं है, ब्रह्मचर्यका आचरण करनेसे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं, इसलिये मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्य

धारण कर रक्खा है, मेरी इतनी उमर हुई आज तक मेरा बिन्दु-पात कभी नहीं हुआ! मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ। अब मुझे गुरु महाराजके उपदेशकी ही देरी है। जहां उपदेश हुआ कि ब्रह्मतत्त्व करामलकवत् हो जायगा। मैं यह ही प्रार्थना करनेको आ रहा था, ये भी मेरे साथ चले आये, पंगुदासकी गाड़ीमें हम सब आये हैं!" संतने उसकी आकृतिसे प्रथम ही पहिचान लिया था कि यह जन्मसे शंढ-नपुंसक है, कथनसे भी वह ही बात उसके मुखसे निकली तब संतने कहा, तू ब्रह्मचारी नहीं हो सकता! शंढ ब्रह्मचारी क्या होगा? जिसका वीर्य ही गौण हो उसका पात कैसे हो? तू न पुरुष है, न स्त्री है यह तेरा शरीर तेरे पूर्वके बहुत दोषोंको प्रकट करता है, तुझको विषयकी कामना बहुत है परन्तु करे क्या! कामनाकी तृप्तिका साधन ही तेरे पास नहीं है। पुरुषत्व होते हुये जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों काम विकारों को रोकता है, वह ब्रह्मचारी होता है, तुझमें काम विकार है ही नहीं, तू रोकेगा क्या? पांचों झूठे बकवादी हो, तुम्हारी कल्पना के अनुसार ईश्वरका न्याय नहीं है, तुम पांचों ही झूठे हो, शायद इस प्रकारके झूठे भावसे भोले मनुष्योंको ठगते भी हो; जाओ तुम लोग मेरे साथ बात करनेके भी अधिकारी नहीं हो। पांचों यह सुनकर चल दिये। जिस प्रकार ये पांचों झूठे थे इसी प्रकार जिस तालावमें पानी नहीं है, वह भी मिथ्या ही है, उससे तालावका काम नहीं निकलता।

धन चले जाने वालेका परिवार कहां है? ऐसी तीसरी

उपमा दी है। धन ही जगत्का ईश्वर है। जगत्में धनकी जितनी मान्यता है उतनी प्रतिष्ठा और किसीकी नहीं है। धनमें ही जादू भरा है। धन से जिस व्यवहारिक पदार्थ को इच्छा हो उसकी प्राप्ति हो सकती है। अच्छे २ गुणी भी धनवाले के पास पहुँच जाते हैं। जगत्के कार्योंकी सिद्धिका मुख्य साधन धन ही है, धनसे अवगुण छिप जाते हैं, कुरूप होने पर भी धन वालेको कोई कुरूप नहीं कह सकता। धन के नशे में धनवान् चूर रहता है, धन वालेका कोई कुटुम्बी न हो तो भी बहुत होजाते हैं। जगत् में धनको ही धन्य २ है! 'वशु (धन) विना नर पशु' ऐसा कहा जाता है। धन रहित को कोई नहीं पूछता, धनहीन की मान प्रतिष्ठा भी नहीं होती, सब तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। धन रहित-के मुख्य कुटुम्बी भी 'हम उसके कुटुम्बी हैं' ऐसा कहनेमें लज्जाको प्राप्त होते हैं, स्त्री, पुत्र, आदिक निकट के सम्बन्धी सम्बन्ध का यथार्थ व्यवहार नहीं करते। धनहीन तुच्छ होता है। कंगाल हालत बुद्धिको भ्रष्ट कर देती है, सदाचार से चलित करती है, इत्यादि अनेक कष्टों का हेतु धनका अभाव है। इस उपमा में कहा है कि धन चले जाने से कुटुम्ब नहीं रहता। कुटुम्ब कहीं चला नहीं जाता परन्तु कुटुम्बी धनहीन को कुटुम्बी नहीं मानते इसलिये उसको कुटुम्बियों का कुछ भी सुख नहीं होता। केवल मनुष्यों का ही यह हाल हो, ऐसा नहीं है, पशु पक्षियों का भी यह ही हाल है। जहां चारा मिलता है वहां पहुँच जाते हैं, जहां चारा न मिले वहां नहीं जाते। जगत् परस्परके स्वार्थसे भरा

हुआ है। जहां स्वार्थको हानि होती है वहां देश देश नहीं रहता; कुटुम्बी कुटुम्बी नहीं रहते, प्रेमी प्रेमी नहीं रहते, अपने पराये हो जाते हैं, मित्र शत्रु हो जाते हैं, चाहे पुत्र हो, चाहे स्त्री हो, सब सम्बन्ध धन से ही है।

एक पुरुष अपनी युवावस्थामें बहुत धन कमाता था, सब कुटुम्बियोंका सब प्रकारसे सत्कार करता था, सबको धन देते हुये सबको चाहता था और वे सब भी धन लेते हुये उसको चाहते थे और अपने प्राणसे भी अधिक प्रिय समझते हों इस प्रकार बात चीत करते थे परन्तु उनका प्रेम केवल धनकी प्राप्ति होती रहनेके निमित्त ही था। माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदिक उसका परिवार बहुत था। देश परदेशमें भी उसकी प्रतिष्ठा बहुत थी। बहुत दुकानें, गोदाम और कार्यालय होनेसे मुनीम, गुमाश्ते और नौकर भी बहुत थे। वह उन सबके साथ मायासे वर्तता था और अनेक निमित्तसे धन देकर उनको संतुष्ट रखता था। लक्ष्मी चलितं है! जब वह बूढ़ा होनेको आया तबसे उसकी दशा गिरने लगी, क्रम २ से धनका नाश होने लगा, जब लक्ष्मी जाने लगती है, तब इतनी तेजी और दृढ़तासे जाती है कि उसे कोई रोक नहीं सकता! थोड़े ही दिनोंमें सब कुछ समाप्त हो गया। घर के बर्तन, वस्त्र तक भी बिक गये! रोजगारसे हीन हो गया। कुटुम्ब बहुत था परन्तु कमाई करके खिलाने वाला कोई न था। ऐसी दशामें उसने अपना देश छोड़ दिया परदेशमें कमाई करने चला गया परन्तु

लक्ष्मीदेवी की अकृपा प्रथमसे ही जाकर वहां खड़ी थी जैसा कहा जाता है कि प्रारब्ध आगे जाता है, मनुष्य पीछे जाता है इसी प्रकार उसका हाल था। परदेशमें भी उसका रोजगार न लगा! दो दिन तक वह जान पहचान वालोंके यहां रहा; पीछे उन्होंने अपने यहां रहनेको मना करदी, जब कहीं ठिकाना न मिला तो मजदूरी करने लगा। मजदूरी भी कभी मिले कभीन मिले, कभी बाजार से चना चवेना लेकर खाले और कभी उपवास ही होजाय। रात्रिको किसीकी दूकानके बाहर पड़ा रहे अथवा किसी सड़कके किनारे पर पड़ जाय। शरीर कोमल, मजदूरी कभी की नहीं, भला फिर कैसे हो? बुढ़ापा आ ही चुका था, शरीर दिन पर दिन क्षीण होने लगा। अब मजदूरी करने का किंचित भी सामर्थ्य न रहा, अन्तमें जहां कंगाल पडे रहते हैं वहां पड़ा रहने लगा। कई वर्षों तक विचारा इस प्रकार कष्ट पाता रहा, ऐसी दशामें घर पर तो भेजता ही क्या? घर वालोंको भी उसकी दुर्दशाका हाल वारम्वार मालूम होता रहता था, घर वाले उसे छोड़ बैठे थे, वे उसे अपने पास बुलाना भी नहीं चाहते थे। दिन पर दिन शरीर जीर्ण होता जाता था, एकदिन उसने विचार किया "अब शरीर गिरनेवाला है, घरके ऊपरही गिरे तो अच्छा है, कुटुम्बी कुछ न कुछ सेवा करेंगे ही! ऐसा विचार कर वह पैदल ही चल पड़ा। उसका घर बहुत दूर था किसी सूरतसे भी वह पैदल चल कर घर पर नहीं पहुंच सकता था, दिन भरमें दो कोस चलता था, अत्यन्त थक जाता था,

रात्रिको जंगल में पड़ा रहता था, सुवह होते ही शक्ति होतेन हुये भी चल पड़ता था, खानेको कुछ पास न था, मार्ग भूल गया। एक मनुष्यसे पूछा तो उसने कहा "पश्चिम के मार्ग से चलाजा मार्गमें रुद्र सागर नामका एक तालाव मिलेगा, उसके किनारेसे एक कोस पर वड़ा स्टेशन आवेगा, वहां वस्ती भी है।" वह उस मार्गसे चल पड़ा। उसने समझ रक्खा था कि रुद्र सागर पर मनुष्य होंगे, वहां कुछ न कुछ खानेको मिल जायगा, स्नान भी वहां ही करूंगा और जल पान कर, कुछ आराम करके स्टेशन की तरफ चलूंगा। धूपका दिन था, कठिनाई से चला जाता था, वहुत ही दूर तक कोई जलाशय न मिला, एक गड्ढा अवश्य दिखाई दिया, थोड़ी देरके वाद एक मनुष्य मिला, उसने उससे कहा, भाई, रुद्र सागर कितनी दूर है ? वह मनुष्य हंस कर वोला तू रुद्र सागरमें तो चल ही रहा है, इस गड्ढे वाली जमीनका नाम ही रुद्र सागर है ! चौमासेमें इसमें थोड़ा जल भर जाता है, नहीं तो खाली ही पड़ा रहता है। वुड्ढेने कहा, मैंने तो रुद्र सागर पर वड़ी २ आशायें वांध रक्खी थीं यहां तो न छाया है; न जल है, न कोई वस्ती है। हाय, रुद्रसागर तू तो रुदन सागर ही है ! उस मनुष्यने कहा; झूंठ मूंठका नाम ही नाम है, सागर कुछ नहीं है। वुड्ढेको प्यास लग रही थी, वहां पानी था नहीं वुड्ढा वेहोश होगया, दो घंटे तक वेहोश पड़ा रहा, वाद एक मनुष्य उस मार्गसे निकला, उसने उसपर जल छिड़का, वुड्ढा कुछ होशमें आया, मनुष्यने कुछ खानेको दिया और पानी

पिलाया तब बुड्ढा थोड़ा चेतन हुआ और वहां से आगे चला, रास्ते में वहुत से मनुष्य मिले, पूछा गया तो उत्तर मिला कि विश्वव्यापी युद्ध में वहुत से मर गये, वहुतसी स्त्रियां पुरुष रहित हो गई हैं, वे सब इस शहरमें आ रही हैं, गौरांग और युवान हैं, जो कोई मनुष्य मिलता है, उसके साथ शादी कर लेती हैं, वे बुड्ढा जवान कुछ भी नहीं देखतीं। बुड्ढे ने विचार किया "अब युवा स्त्री मेरे किस काम की ? मुझ में काम विकार का सामर्थ्य कहां है ?" ऐसा विचार कर उसने उन लोगों का मार्ग छोड़ दिया और स्टेशनका मार्ग लिया, वहांसे जो गाड़ी जाती थी उसीके शहरमें पहुँचती थी, स्टेशन पर सब टिकट ले रहे थे, बुड्ढेके पास दाम थे नहीं, स्टेशन मास्टरको उस पर दया आई, उसने उसे विना टिकट ही गाड़ी में बैठा दिया, बुड्ढा शहर में पहुँच कर अपने घर पर आया, कुछ रात्रि हो गई थी, बुड्ढे ने बहुत आवाज लगाई परन्तु किसीने किवाड़ न खोले, विचारा रास्तेहीमें सो रहा, जब सुबह हुई, बुड्ढा घर में घुसने लगा तो घर वालोंने उसे घरमें घुसने न दिया और कह दिया "हम तुझे नहीं जानते कि तू कौन है, पति, पिता, भाईका कबका ही स्वर्गवास हो गया है, तू हमको ठगने को आया है !" बुड्ढेने बहुत प्रकारसे पूर्वका वृत्तांत कहा तो भी किसीने घर में घुसने न दिया क्योंकि अब उससे किसी प्रकारका स्वार्थ होता नहीं दीखता था। अन्तमें विचारा शहरके बाहर नदी किनारे पहुंचा, वहां एक संत रहते थे, जब वे भोजन करते थे तब आस पास जो कोई भूखा होता,

उसे बुलाकर भोजन करा देते थे, बुड्ढा वहां ही भोजन करने लगा और पड़ा रहने लगा, पांच सात रोज नियमित अच्छा भोजन मिलनेसे बुड्ढे के शरीर और मन में कुछ शक्ति आ गई, संतके यहां शामको प्रति दिन शास्त्रोपदेश हुआ करता था, बुड्ढा भी वहां बैठा २ सुना करता, बुड्ढेने धनके तमाशे देख लिये थे, जगत्में रावसे रंक तक सबका अनुभव कर लिया था, जगत्के ऊपर उसको वैराग्य हो ही रहा था, संत के पास के निवाससे, संतके पवित्र भोजनसे और नित्यके शास्त्रोपदेश से वह बहुत जल्दी शुद्ध हो गया और उपदेश का उस पर असर होने लगा। थोड़े हो दिनोंमें, जो बहुत परिश्रमसे भी सामान्य मनुष्यको प्राप्त होना कठिन है, ऐसा ब्रह्मतत्त्व उसे प्राप्त हुआ; जब वैराग्यसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया तो उपदेश का रंग चढ़ने में देरी ही क्या थी ? कुटुम्ब, धन और शरीरासक्ति निवृत्त हो ही चुकी थी; उसके पूर्व पुण्यने भी मदद दी, थोड़े समय में ही वह ब्रह्मज्ञानी हो गया, बुड्ढे का अन्तिम समय बहुत अच्छे प्रकारसे व्यतीत हुआ, शरीरांत में वह मोक्ष को प्राप्त हुआ।

ऊपरके दृष्टान्तसे सब स्पष्ट हो गया होगा, एक उपमेय के लिये तीन उपमा दिखाई हैं, तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद संसार नहीं रहता, उसको समझाया है कि जैसे अवस्था चली जाने से काम विकार नहीं रहता, जैसे जल चले जाने से तालाब नहीं रहता, जैसे धन चले जाने से परिवार नहीं रहता; इसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जानेसे संसार नहीं रहता । यह हीनोपमा है

क्योंकि प्रथम के तीनोंका फिर होना संभवित है; परन्तु तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् संसारका होना कभी भी संभवित नहीं है। संस-रना—चलना संसार है, जब तक तत्त्वका बोध नहीं होता तब तक संसारकी सत्यता है। सत्य समझे हुये संसारमें ही चलना होता है। जब आत्मतत्त्व—ब्रह्मतत्त्वका यथार्थ बोध हो जाता है तब संसार तुच्छ, झूंठा हो जाता है। तब ज्ञानी के लिये संसार नहीं रहता। जैसे दिन होते ही रात्रिका अन्धेरा टिक नहीं सकता; इसी प्रकार तत्त्वबोध होते ही संसार नहीं टिकता, अविवेकसे संसार की सिद्धि है, जब तत्त्वबोध रूप विवेक होता है, तब अविवेक और अविवेकका बना हुआ संसार भाग जाता है। जो दीखता है, वह संसार नहीं है किन्तु अहंभाव सहित मनका अनेक इच्छाओंमें घूमना, राग द्वेष सहित पदार्थों का ग्रहण करना, यह ही संसार है। यह संसार अज्ञान से है, जिसको ज्ञान हो जाता है, उसको उपरोक्त संसार नहीं रहता। बाहरका संसार तो केवल उसकी छाया है, सुख दुःख का हेतु भी नहीं है तब उसे संसार किस प्रकार कहा जाय? तत्त्वज्ञान होनेसे अपने आद्य, व्यापक स्वरूपका बोध होता है, उस बोध से व्यक्ति भावके बने हुये जीव भाव, अहं, ममत्व और उनके स्थान रूप तीनों शरीरोंके स्थान रूप संसार—अज्ञान सबकी ही निवृत्ति हो जाती है। परन्तु आश्चर्य यह है कि संसारकी निवृत्ति, तत्त्व-ज्ञानीके सिवाय अन्यके जाननेका विषय नहीं है। धन्य, भाग्य इस बुड्ढे का! अनन्त कष्ट सहते हुये भी सत्संग के प्रभाव से

उसे अपने आद्य स्वरूपका बोध हुआ। जैसा संग वैसा रंग ! जो अपना कल्याण करना चाहे; उसको चाहिये कि जिससे तत्त्व ज्ञानका बोध हो सकता हो, उसीका संग करे ।

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू
रात्रौ चिबुक समर्पित जानुः ।
करतल भिक्षा तरुतल वास-
स्तदपि न मुंचत्याशा पाशः ॥८॥ भं०

अर्थः—आगे अग्नि जलता है, पीछे धूप पड़ती है, रात को घोंटुओं के बीचमें डाढ़ी रख कर सोना पड़ता है, भिक्षा करने का पात्र न होनेसे हाथ ही भिक्षापात्र है, पेड़के नीचे रहना पड़ता है तो भी आशाकी फांसी को नहीं छोड़ता ! गोविन्दका भजन कर !

अग्नि अगाड़ी धूप पिछाड़ी ।
रात करे घोंटुन बिच डाढ़ी ॥
कर धरि खाता तरुतर बसता ।
तो भी आशा पाश न तजता ॥८॥ भज०

जगत्में आशा ही अत्यन्त दुःख देने वाली है। जहां आशा है, वहां त्रास होता है, थोड़ेमें कहा जाय तो सब अनर्थका कारण, जगत्का सब प्रकार दुःख आशासे ही है, इसी कारण आचार्य बारम्बार अनेक युक्तियोंसे आशा छोड़नेका ही उपदेश दे रहे हैं,

प्रथम तीसरे और पांचवें पद्यमें आशाका ही कथन किया है और अब भी आशा का ही वर्णन करते हैं। जगत्में मनुष्योंकी स्थिति एक समान नहीं होती, जो आशाको न छोड़ सके ऐसी स्थिति वालेको भी प्रयत्नपूर्वक आशा छोड़नी चाहिये, जिसके पास आशा करने योग्य कुछ नहीं है, ऐसी दीन अवस्था में भी आशा न छोड़ना शोचनीय है। जिनके पास कुछ है वे तो आशाके प्रवाहमें बहे ही जारहे हैं, और जिनके पास नहीं है, होनेका संभव भी नहीं दीखता, वे भी आशा के भंवर में पड़े हुये हैं। ऊपर के पद्यमें जिनके पास कुछ नहीं, क्या क्या नहीं, शरीर व्यवहार कितनी आपत्ति से चलता है, यह दिखाते हुये कहते हैं कि ऐसा होने पर भी आशाको नहीं छोड़ता, जब कोई भी फांसी नहीं है तब अपने आप ही आशाकी फांसी डाले हुये रहता है।

ऊपर जो वर्णन किया है, वह कंगालपने का किया है। कई मनुष्य वर्णाश्रमके अनुकूल व्यवहार करते हैं, कई वर्णाश्रम में रहते हुये सब व्यवहार ठीक रीतिसे नहीं करते, और कई मनुष्य वर्णाश्रमके धर्मसे रहित भी हैं। जिनके पास कुछ नहीं, भिक्षा मांग कर खाना ही जिनका एक रोजगार है, ऐसे बहुतसे कंगले हैं। ऊपरका वर्णन उन्हीं को लागू पड़ता है और ऐसा ही वर्ताव किसी २ ज्ञानी महात्मा का भी होता है। यदि वह ज्ञानी है तब तो उसमें आशा नहीं है इसलिये ऊपरका कथन उसको लागू नहीं पड़ता। चाहे कंगाल हों, चाहे वेषधारी हों, ऊपर के समान वर्ताव होते हुये जो आशा की फांसीसे बंधे हुये हैं, उनके

लिये ऊपरका कथन है। जिसको रहनेको घर नहीं, पहिननेको वस्त्र नहीं, ऐसे अग्नि सुलगा कर जाड़ेके दिन व्यतीत करते हैं। गरमीके दिनों में चलते फिरते गरमी सताती है, धूप सहनी पड़ती है, भिक्षा-के लिये घूमना पड़ता है अथवा निर्वाह न होनेसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है तब धूप लगती है; क्योंकि शरीर ढकने को वस्त्र और शिर पर रखने को छाता पास नहीं है; जाड़ेमें जब बहुत ठंड लगती है तब दोनों घोंटुओं को एकत्र कर उनके बीच में शिर दबा कर रात्रि व्यतीत करता है, इस प्रकार गठरीके समान हो जानेसे जाड़ा कम लगता है। जाड़ा गरमी दोनों ऋतुओं में ही जिसको क्लेश होता है, आगे अग्नि और पीछे धूप ऐसे दोनों तरफ से बीचमें रहकर जो जलता है, भोजनका पात्र पास न होनेसे हाथमें लेकर ही भोजन करना पड़ता है। निवास के लिये मकान नहीं है, किसी वृक्षके नीचे रहना पड़ता है। ऊपर बताये हुये सब आपत्तिके चिन्ह हैं, ये चिन्ह महा कंगाल-पने को दिखलाते हैं अथवा कोई कोई दुराग्रही वैरागी, तपस्वी नाम धारण करनेवाला नागा, गोसाईं तप समझ करभी पंचाग्नि रूप अग्नि जला कर धूपमें बैठते हैं। कई धूनी लगाते हैं, कई अनेक धूनियोंके बीचमें बैठते हैं, पीठ के ऊपर धूप पड़ती है, ऐसे कष्ट सहते हुये भी आशा को नहीं छोड़ते, यदि ऐसी क्रिया शास्त्र विहित हो तो भी यथार्थ भाव रहित होने से फल देने वाली नहीं होती, प्रायः देखा गया है कि बहुतसे ऐसे तपस्वी कहलाने वाले क्रोधी और अनेक आशाओं के पाशमें जकड़े हुये ही होते हैं,

बाहर की जलन सहते हुये भी यदि आशा की जलनको निवृत्त करने का उपाय न हुआ तो कुछ भी न हुआ ! शरीर तो अग्निमें जलने वाला है ही, उसे जलानेसे क्या फल हुआ ? आशा को जलाने में ही फल है परन्तु मतिके मूढ़, जिनकी दृष्टि स्थूल परही है आशाको समझते ही नहीं ! आशाको समझने और तोड़ने की जिनमें बुद्धि नहीं है, वे चमड़े जलाने और लोगोंको अपना तप दिखलाने में ही अपनी बड़ाई-सिद्धाई समझते हैं। वास्तविक पंचाग्नि क्या है, इसका उन्हें पता भी नहीं है, पांचों विषय रूप पंचेन्द्रिय अग्निही पंचाग्नि है उनसे विकारको प्राप्त न होना पंचाग्निका तप है, स्थूल अग्नि सहन शक्ति होनेमें मदद रूप है परन्तु उसको ही अन्तिम समझना मूर्खता है।

बालकसे लेकर वृद्ध पर्यन्त स्त्री और पुरुष भोगोंकी आशासे भरे हुये हैं। आशा, तृष्णा, इच्छा, कामना, वासना आशा केही रूप हैं, थोड़ा थोड़ा भावमें फरक करते हुये उनका उपयोग होता है, आशा भोगके लिये अथवा भोगके साधनके लिये होती है, भोग पांच विषयोंमें होता है इसलिये आशा भी पांच प्रकार की है। विषय पांच होते हुये भी उनके पदार्थ अनेक हैं इसलिये आशायें भी अनेक हैं। वर्तमान और भविष्य काल के भेद से भी आशाका भेद है, आशाका होना क्षण क्षण में होता है, आशाका उत्पत्ति स्थान अन्तःकरण है। जितनी आशायें उत्पन्न होती जाती हैं, उतना ही अन्तःकरण मलिन और तुच्छ होता जाता है। आशा उत्पत्ति में ही अन्तःकरण को मलिन करती हो, ऐसा नहीं है

किन्तु आशाकी स्थिति और बीज रहते हुये आशा का भंग अन्तःकरणको मलिन करता है, आशा अमरवेलके समान न घटते हुये दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है, एकमेंसे अनेक होती है, जैसे अमरवेल जड़ रहित होती है; ऐसे ही आशा की भी जड़ नहीं होती। जब ब्रह्मांड भरमें आशाके योग्य कोई भोगका विषय नहीं है तो ऐसे विषय में होने वाली आशाकी जड़ कहां ? मनुष्य उमरमें, बुद्धिमें और ऐश्वर्यमें ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी आशायें भी बढ़ती जाती हैं। मनुष्यकी आयु, बुद्धि और ऐश्वर्य आदि क्षीण होजाता है परन्तु आशा क्षीण नहीं होती ! जैसी आशा की वृद्धि होती है, ऐसी वृद्धि किसी पदार्थकी भी नहीं होती। आशासे दुःख होता है और आशा के त्यागसे सुख होता है परन्तु आश्चर्य यह है कि ऐसा जानते हुये भी आशाको छोड़ नहीं सकते। आशाका बंधन इतना बलिष्ट है कि लोहेका बंधन भी उसके सामने तुच्छ है। जब ईश्वरकी तरफ रुचि हो तब ही आशा छूटना संभव है, निराशा हुये बिना न तो भक्ति होती है, न ज्ञानमार्ग में प्रवृत्ति होती है। आशाको छोड़े बिना इस संसार में भी किसीको सुख नहीं मिलता तब परलोक में सुख कहां से हो ? कितनोंही को आशाने दरिद्र कर डाला ! किसी को शिर मूंड़ कर बाबाजी बना दिया है ! किसी से कुकर्म कराया है ! किसीको धर्मसे भ्रष्ट कर दिया है ! कितनों ही को जंगल में भटकाया है ! कितनोंही से घर २ टुकड़े मंगवाये हैं ! कितनों ही को नरकका अधिकारी बना दिया है ! ऐसी यह दुष्ट आशा किसीको

ईश्वरका नाम किस प्रकार लेने दे ! सब कुछ नाश होते हुये भी आशाका नाश नहीं होता। पतिव्रता स्त्रीके समान आशा साथ ही रहती है, मरने पर भी साथ ही सती होती है, आशासे जीवन ठीक रीति से व्यतीत होता है, ऐसा समझना भूल है। जीवन प्रारब्ध के आधार पर है, आशाके आधार पर नहीं है, आशा से आयु दुःखरूप होती है, यह यथार्थ ही है। अज्ञान में पड़ा हुआ कोई भी मनुष्य आशा रहित नहीं है। कोई धनकी आशासे दुःखी है, कोई शरीर आरोग्य रहनेकी आशासे दुःखी है, कोई पुत्र पुत्री की आशासे दुःखी है, सबको सब प्राप्त नहीं हो सकता। अपूर्ण को पूर्ण होनेकी आशा अवश्य रहती है इसलिये किसी भी स्थिति में हो, ईश्वर से प्रेम करते हुये आशा को तोड़नेका प्रयत्न करना चाहिये, जो आशा को छोड़ता है, वह ही सुखी होता है। कई प्रसंगोंमें ऐसा होता है कि अनेक प्रकारके दुःख पड़ने पर किसी को पूर्वके सुकृत के योगसे वैराग्य होकर निराशा की प्राप्ति हो जाय तो उसका जन्म सुधर जाता है। इसका एक दृष्टान्त इस प्रकार है:—

एक समय मालवा देश में लोभीशंकर नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह खेती, व्यापार, लेन देन आदि अनेक प्रकारका व्यवहार किया करता था। ज्यों ज्यों उसके पास धन बढ़ता गया त्यों त्यों उसकी आशा भी बढ़ती गई, यानी वह विशेष लोभी होता गया। लोभीके सिवाय वह कामी और क्रोधी भी था। छल, फरेब, प्रपंच, दंगा, फसाद किसी प्रकार से भी

धन-हरण करना, यह ही उसका मुख्य व्यापार था। वह ब्राह्मण था तो भी उसका घर कसाइयों के घरके समान संस्कार वाला था। वह स्वजाति वाले और आये हुये अतिथियोंका वचनसे भी सत्कार-नहीं करता था, उलटा तिरस्कार करता था, समय और समृद्धिके अनुकूल शरीर, मनको भोगसे प्रसन्न करता था। इसके पुत्र, स्त्री, बहिन, भाई अथवा नोकर, गुमाश्ता कोई उसे नहीं चाहता था, सब द्रोह रखते थे, इस प्रकार यक्षके समान धनका संचय करने वाले, दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हुये, धर्म रहित उस ब्राह्मण पर, गृहस्थका पंच यज्ञ आदि नित्य-कर्म न होनेसे उसके देवताने कोप किया। देवताके अनादरसे पूर्व पुण्यका क्षय हुआ और धन जाने लगा। कई कुटुम्बी उसका धन चुरा चुरा कर ले जाने लगे, कुछ जातिके लोग और कुछ चोर ले गये, घरमें कई वार अग्नि लगनेसे बहुत सा माल जल गया। बहुतसे लेने वालों पर समय बीत जानेसे रुपया डूब गया, कई मुकद्दमे लग गये इसलिये बहुत सा धन कचहरी दरबार में खर्च होगया। इस प्रकार धन रहित होनेसे स्वजनों में उसका निरादर होने लगा। अब तो लोभीशंकर चिंतामें पड़ा। धनके नाशसे रात्रि दिन नेत्रोंमें से आंसुओं की धारा बहा करती थी, मुख तकमें आंसू घुस जाते थे! धन और जनके सम्बन्ध में उसने बहुत कुछ विचार किया परन्तु जब कोई भी विचार सफल होने की सूरत न देखी तब जैसे कोई बहिरा अचानक चोट लगनेसे बहरेपनको खो देता है; इसी प्रकार धनकी चोटसे उसे वैराग्यका विचार आया, वह विचारने लगा "अहो!

मैंने बहुत बुरा किया, अपने शरीरको वृथा ही कष्ट दिया, धनके निमित्त किया हुआ मेरा इतना भारी परिश्रम धर्म करने और सुख भोगनेमें कुछ काम न आया ! सच है कि अति लोभी मनुष्य का धन जीने तक उसके देह और मनको पीड़ा ही देता है और मरने के बाद नरकका दाता होता है। जैसे थोड़ासा श्वेत कुष्ट सुन्दर शरीर को कलंकित करता है वैसे ही यशस्वी पुरुषों के पवित्र यशको और गुणवानों के प्रशंसनीय गुणोंको थोड़ासा लोभ नष्ट कर डालता है। धन प्राप्त करनेमें, प्राप्त होने के बाद बढ़ानेमें, रक्षण करनेमें, खर्च करनेमें, नाश होनेमें और भोगनेमें मनुष्यों को परिश्रम, चिन्ता और भ्रम ही होता है। चोरी, हिंसा, मिथ्या भाषण, दंभ, काम, क्रोध, विस्मय, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, स्त्रियोंका व्यसन, जुयेका व्यसन और मद्यका व्यसन, ये पन्द्रह अनर्थ धनसे होते हैं। इसलिये कल्याणकी इच्छा करने वाले पुरुषको अनर्थ करने वाले धनको दूरसे ही त्याग देना चाहिये। भाई, स्त्रियां, माता, पिता और संबन्धी जो स्नेहसे एकत्र रहते हैं वे भी धनसे अलग होजाते हैं, कौड़ी कौड़ी के लिये एक दूसरेके शत्रु होजाते हैं। बड़े बड़े राजा धनके लालच से ही विष देकर मारे गये हैं। यह लोक और परलोक दोनों ही धनसे बिगड़ जाते हैं, क्योंकि धनमें ही जिसकी निष्ठा है ऐसा जो पुरुष, देवताओं को भी दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्मको प्राप्त होकर, ब्राह्मण होकर, मनुष्यत्व और ब्राह्मणपने का अनादर करके आत्मा का कल्याण नहीं करता, वह अधोगति को ही प्राप्त होता है। यह

शरीर स्वर्ग और मोक्षका द्वार है, उसे प्राप्त करके जिसके शिर पर मृत्यु घूमा करती है ऐसा मनुष्य, धनमें क्यों आसक्ति रक्खे ? देव, ऋषि, पितृ, भृत्य, ज्ञाति और बन्धु जो भाग देनेके योग्य हैं, उनको और अपने को जो अन्नादि से तृप्त न करके यक्ष के समान धनकी चौकीदारी करता है, वह पुरुष नीच योनिमें पड़ता है। मैं जो धनकी व्यर्थ तृष्णा से प्रमाद को प्राप्त हुआ था, उसका धन, अवस्था और बल जिस करके विवेकी पुरुष संसार सागरको तर जाता है, वे सब चले गये, अब बूढ़ा हुआ हूँ, क्या कर सकूंगा ? लोग इस प्रकार अनर्थ को जानते हुये भी धनकी व्यर्थ तृष्णा करके क्लेशको क्यों प्राप्त होते हैं ? धन और भोगसे सुख मिलता है, ऐसा समझ लिया जाय तो भी जिसकी मृत्यु नित्य समीप आता जाता है, ऐसे मनुष्य को धनसे, धन देने वालेसे, सुख से, सुख देने वालेसे और फिर जन्म देने वाले कर्मोंसे क्या होगा ? मैं समझता हूं कि मुझ पर प्रभुकी कृपा हुई है जिससे मैं इस दशा को प्राप्त हुआ हूं, यदि मेरा धन न जाता तो मुझे सद्बुद्धि न प्राप्त होती। मुझे धन्य है कि अब भी मुझे वैराग्य हुआ है ! आत्माका संसार से उद्धार करनेवाला जहाज मिला है ! अब जो आयुष्य शेष रहा है, उसमें मैं स्वस्वरूप में संतोष रक्खूंगा, और धर्मादि साधनोंमें प्रवृत्त होकर ब्रह्मविद्या से अपने शरीरका लय करूंगा ! षट्वांग राजा का आयुष्य एक मुहूर्त ही शेष रहा था, उतने ही समय में वह चेतन होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ था। मेरा आयुष्य तो अभी कुछ शेष है, ऐसा मालूम होता है। मैं जो अब

चेता हूं तो मुझे अवश्य सद्गति प्राप्त होगी ! ऐसा मेरा निश्चय है।"

इस प्रकारका निश्चय करके लाभीशंकरने अहंता, ममताको त्याग कर सद्गुरुके शरणमें जा, संन्यासी हो, मौनव्रत ग्रहण कियाँ, इन्द्रिय और प्राणको वश किया। इस प्रकार वह भिक्षुक होकर पृथ्वी पर विचरने लगा, आसक्ति रहित, अपनी श्रेष्ठता प्रकट न करता हुआ नगर और ग्राममें भिक्षाके लिये जाता था। इस बूढ़े अवधूत भिक्षुकको देखकर उसके ग्रामके और अन्य ग्रामोंके नीच लोग दुःख देने लगे। कोई उसके हाथमेंसे कमंडलु छीन लेता था, कोई त्रिदण्डको लेकर भाग जाता था, कोई पात्र ले भागता था, कोई बैठनेके आसनको फैंक देता था, कोई माला चुरा ले जाता था, कोई कंथाको उठाकर चल देता था अथवा फाड़ डालता था, कोई कुछ खानेकी वस्तु लाकर हाथ पर रख कर कहता था "महाराज, लो!" जब अवधूत लेनेको आता तो विना दिये भाग जाता था, जब भिक्षुक मिले हुये अन्नको जलमें धोकर खाने लगता था तो कोई ढेला मारता, कोई गालियां देता और कोई दुष्ट तो हाथमें लिये हुये रोटीके टुकड़ेको ही छीन भाग जाता था! भिक्षुक सब समयमें मौन ही रखता था, न तो कुछ बोलता था और क्रोध भी नहीं करता था ! उसे न बोलता देखकर दुष्ट लोग उसे बुलानेका प्रयत्न करते थे और जब देखते थे कि किसी प्रकार नहीं बोलता तो मारते भी थे ! कोई कहता 'चोर है।' कोई कहता 'बांधो!' ऐसा कहकर रस्सीसे बांध देते

थे! कोई पूर्वका जानने वाला कहता, बड़ा अधर्मी है, पापी है। इसने लोगोंका खूब गला काटा है, अब सिद्ध बना है! धर्म के नाम से ढोंग कर रहा है! धन चला गया, सम्बन्धियोंने छोड़ दिया, खानेके लिये ढोंग कर रहा है। इस प्रकार दुष्ट लोग अवज्ञा करते थे। कोई कहता, यह तो पर्वतके समान दृढ़ और धैर्यवान् दीखता है, पक्का महात्मा है। कई मसखरे इस प्रकार हंसी भी करते थे। कितनेक तो उसके पास जाकर अपान वायुको छोड़ देते थे। खेलनेके पक्षी समान रस्सीसे बांध रखते थे, कभी कोठरीमें बन्द कर देते थे। इस प्रकार दुर्जनोंके ताड़नसे जो दुःख होता था, क्षुधा और ज्वरादिमें जो कष्ट भोगना पड़ता था अथवा शीतोष्ण आदिसे जो वेदना होती थी, उसको भिक्षुक अपना प्रारब्ध मान कर भोग लेता था और किसी प्रकार भी अपने निश्चयसे चलित नहीं होता था। धैर्य धारण करके इस प्रकार विचारा करता था:—

देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म और काल जिनसे दुःख होता है वे मुझे दुःख देनेमें कारण रूप नहीं हैं। सुख दुःखका कारण तो मन ही है, मन ही संसार रूप चक्रको घुमाता रहता है, अत्यन्त बलवाला मन गुणोंकी प्रवृत्तियोंको उत्पन्न करता है, गुणोंसे सात्विक, राजस और तामस ऐसे भिन्न भिन्न प्रकारके कर्म होते हैं, और कर्मों से सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी अवतार होते हैं, इस प्रकार मन संसार रूपी चक्रको घुमाया करता है। ईश्वर अक्रिय होनेसे मनके साथ नियंतापनेसे रहते हुये भी क्रियाके संगसे

रहित है, ज्ञानमय और जीवोंका नियंता है। वह अखण्ड ज्ञान से देखता है, मैं जीव तो अपनेमें संसारको देखनेवाला माननेसे ही हूं, कर्मों और गुणोंके संगसे, विषयोंका सेवन करनेसे बँध गया हूँ, इससे सिद्ध होता है कि अविद्यासे होनेवाली मनकी कल्पनासे ही जीवको यह संसार हुआ है, वास्तविक नहीं है; क्योंकि अविद्या के सिवाय ईश्वरको संसार है नहीं और अविद्या वाले जीवको ही है—दीखता है। नित्य नैमित्तिक स्वधर्म, यम, नियम, व्रत, ध्यान और अन्य सब प्रकारके सत्कर्मका फल मनका निग्रह ही है, मन-का निग्रह होना महायोग है, जिसका मन शांत और वश हुआ है, उसे दान करनेसे क्या प्रयोजन है, और जिसका मन वशमें नहीं है, भटकता रहता है, उसे दानादिक से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अन्य इन्द्रियोंको जीतने से कुछ विशेष फल नहीं है क्योंकि सब देव मनके वशमें हैं। मन किसी इन्द्रियके वश नहीं होता मन बलिष्ठमें भी बलिष्ठ है। मन भयंकर देव है! जो पुरुष मनको वश कर ले वह देवोंका भी देव है। जिससे रागादि वेगका सहन नहीं हो सकता, और जो सबको पीड़ा देनेवाला है, जिसका जय करना कठिन है, ऐसे मनको वशमें न करके कितनेक मूढ़ मनुष्य संसार में अन्य मनुष्योंके साथ वृथा कलह करते हैं और उनमें शत्रु, मित्र और उदासीनकी कल्पना करते हैं। इस प्रकार मनसे कल्पी हुई अपने देहकी अहंता और पुत्रादिके देहकी ममताको स्वीकार करके मंद बुद्धिवाले मनुष्य, 'यह मैं, यह दूसरा' ऐसी भ्रांतिसे इस अानंद और अपार संसार रूप अन्धेरेमें भटका करते हैं। इस

प्रकार मन ही सुख दुःखका कारण है। लोक, देवता, आत्मा, कर्म और काल इनमेंसे कोई भी सुख दुःखका कारण नहीं है। यदि लोक सुख दुःखका कारण हो तो उससे आत्माका क्या ? सुख दुःखका भोक्तापना या कर्तापना आत्मामें नहीं है। एक शरीर दूसरे शरीरको सुख दुःख दे कर सुखी दुःखी होता है, आत्मा नहीं होता है क्योंकि निराकार और क्रियारहित कोई किसी पदार्थका भोक्ता अथवा कर्ता नहीं हो सक्ता। कदाच शरीरका सुख दुःख आत्मामें लगता हो तो आत्मा सबमें एक है, फिर किस पर कोप करे ? अपनी जीभ दांतोंके नीचे दब जाती है तो क्या दांतको उखाड़ डालते हैं ? देवता दुःखके कारणरूप हों तो भले हों, आत्माको इससे क्या ? एक मनुष्यके मुख पर दूसरेका हाथ थप्पड़ मारे तो मुखके देवता अग्नि और हाथके देवता इन्द्रमें कलह हुआ, इससे आत्माको क्या ? निर्विकार और अहंकार रहित आत्मामें कुछ भी होना संभवित नहीं है; इसलिये किसी पर भी क्रोध करना उचित नहीं है, अपने ही शरीरमें एक अंग पर दूसरे अंगका प्रहार हो तो किसके ऊपर कोप करे ? ग्रह सुख दुःखका कारण हों तो वे जन्म लेनेवाले देहके ही सुख दुःखके कारण हो सक्ते हैं, जन्म लग्नसे चौथी, आठवीं, बारहवीं राशि पर आया हुआ ग्रह देहको ही दुःख दे सक्ता है, आत्माको नहीं क्योंकि आत्मा जन्मता नहीं है इसलिये उसको कोई दुःख दे ही नहीं सक्ता। ज्योतिषी कहते हैं कि ग्रहोंकी दृष्टि पड़नेसे पीड़ा होती है, अंतरिक्षमें रहे हुये क्रूर ग्रहोंकी दृष्टि घरके कोनेमें रहनेवाले ग्रहों

पर पड़ती है, मैं तो ग्रह और लग्न-संयोगसे रहित हूँ, मैं किसके ऊपर क्रोध करूं ? आत्मासे कोई कर्म होता नहीं और विचारसे देखा जाय तो शरीरसे भी कोई कर्म नहीं होता। एक ही पदार्थमें जड़पने और अजड़पनेसे कर्म होना संभव है क्योंकि कर्म करने वालेमें विकार और हिताहितका ज्ञान दोनों ही देखनेमें आते हैं। जड़ देह कर्म करता है, ऐसा माने तो उसमें बोध नहीं है। चेतन आत्मा कर्म करता है, ऐसा कहा जाय तो आत्मामें विकार नहीं है क्योंकि आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार कर्मकी सिद्धि ही नहीं होती तो क्रोध किसके ऊपर किया जाय ? जो काल सुख दुःखका कारण हो तो इससे भी आत्मा को क्या ? काल भी आत्मा का अंश है। जैसे ज्वाला को ताप--अग्नि नहीं लगता, जैसे हिमके कणके को शीतलता नहीं लगती; इसी प्रकार काल से होने वाले सुख दुःख आत्माको नहीं लगते। लोग, देवता आदिमें अथवा अन्य पुरुषोंमें सुख दुःखके कारणपनेकी कल्पना करें तो यह मिथ्या ही है। आत्मा प्रकृतिसे परे है। देश, काल, वस्तु, सुख, दुःख आदिका सम्बन्ध आत्मामें नहीं है, झूठे प्रपंचको खड़े करने वाले अहंकार से ही सुख दुःख आदिक प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं है। इस प्रकार विचार कर वह ब्राह्मण किसी पर भी क्रोध नहीं करता था और प्राचीन ऋषियों ने जिसका सेवन किया है ऐसी ब्रह्मनिष्ठाका आश्रय उसने लिया था, इस प्रकार जिसका पार होना कठिन है ऐसे संसाररूपी अन्धकारको छोड़कर परमपदको प्राप्त हुआ, लोभीशंकर लोभीशंकर न रह कर पूर्णशंकर होगया।

ऊपरके दृष्टांतमें बताया हुआ लोभीशंकर सद्विचार करता हुआ मुक्त हुआ परन्तु लाखों मनुष्य अनेक आपत्तियां आने पर भी नहीं चेतते, आशाकी फांसीको नहीं तोड़ते, ऐसे मनुष्य स्वयं और अन्यको दुःखरूप होकर नरकगामी ही होते हैं, ऐसे सैकड़ों दृष्टांत जगत्में देखनेमें आते हैं। दुःख चेतनेके निमित्त ही होता है। जगत्का सुख मिथ्या है, ऐसा समझने को ही दुःख आता है परन्तु मूढ़ अज्ञानरूपी कीचड़में फंसकर कुछ भी विचार नहीं करते।

घरमें संपत्ति न रही, बुद्धि है नहीं, शास्त्रपठन किया नहीं, मेहनत होती नहीं, आशा टूटी नहीं, तो भी अपने निर्वाह निमित्त घर वार छोड़ कर भटकते हैं! कभी किसी को प्रथम कुछ वैराग्य हो तो भी वह ऐसे संग और संयोगमें फंस जाता है कि किया हुआ वैराग्य उड़ जाता है और वेष धारण करने पर भी पूरा कंगाल बना रहता है! घर, ऐश्वर्य आदि शरीर सिवाय अन्य कुछ रहता नहीं, दूसरे की दयाके ऊपर ही ऐसोंका जीवन होता है! अग्निके सहारे अथवा धूपके सहारे शीतका निवारण करते हैं। अपात्र होने से मांगते हुये सैकड़ों तिरस्कार सहने पड़ते हैं। रात्रि को पेड़के सहारे शरीरकी गठरी बनाकर सोना पड़ता है। खानेको कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता, कभी वासी, दुर्गंधियुक्त और सड़ा हुआ खाना पड़ता है। इस प्रकार सब प्रकार से दीन हुआ है तो भी आशा में दीन नहीं! अनेक प्रकारकी व्यर्थ आशायें बांधता है। मद्य मांससे अपवित्र होता है, जब नहीं मिलता तब चोरी करता है, जुआ खेलता है, पकड़ा जाता

है, कैद भोगता है, अनेक प्रकार कष्ट पाता है। कैद से छूट कर भी अपनी आदत को नहीं सुधारता। उसी चोरी जुये में लगता है। वेषको वदनाम करता है, स्वयं दुःखी होता है। साथियों को भी दुःख देता है। इन सबका कारण आशा ही है। आशा करने वाला यहां भी नरक भोगता है और आगे भी नरक का कीड़ा ही बनता है। जैसे सड़ियल कुत्ता असमर्थ होने पर भी आशा से कुत्तीके पीछे दौड़ना नहीं छोड़ता, कुत्ते काटते हैं, लोहू लुहान होजाता है तब भी पीछा नहीं छोड़ता; इसी प्रकार उसका हाल है वह प्रत्यक्ष ही राक्षस है, ऐसा समझना चाहिये। आचार्य ऐसों को उपदेश दे रहे हैं परन्तु हमको शंका है कि ऐसोंको उपदेश लगेगा ही कब ? कभी नहीं लग सकता।

यावद्वित्तोपार्जन सक्त-
स्तावन्निज परिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जर भूते देहे,
वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥६॥भ०

अर्थः—मनुष्य जब तक धन कमा कर लानेमें समर्थ होता है तब तक उसका परिवार—कुटुम्ब उसके आधीन रहता है, प्रीति रखता है और पीछे शरीर निर्बल होनेसे जब कमानेमें असमर्थ होता है तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता। इसलिये गोविन्द का भजन कर।

धन लानेमें समरथ जब तक।
प्रीति करे है घरके तब तक॥
पीछे जब तनु जर्जर होई।
घरमें बात न पूछे कोई॥५॥ भज०

संसार में जितना सम्बन्ध है, सब स्वार्थ का है। सम्बन्ध चाहे मित्रताका हो, कुटुम्बका हो या स्त्री पुत्र आदिकका हो, कोई भी संबंध स्वार्थ रहित नहीं है। जैसे चैतन्य दीखते हुये प्राणियों-का सम्बन्ध स्वार्थ रहित नहीं है; ऐसे ही जड़ों का सम्बन्ध भी स्वार्थ रहित नहीं है, जड़ से सम्बन्ध रखने वाला प्राणी अपने स्वार्थ के लिये जड़ से सम्बन्ध रखता है, जो जड़ है, उसमें अहं-भाव न होनेसे वह स्वार्थ कर नहीं सकता; परन्तु जहां प्राणियोंका प्राणियों से सम्बन्ध है, वहां दोनों का परस्पर स्वार्थ मिला हुआ होता है, जो कोई किसी को चाहता है, अपने स्वार्थसे ही चाहता है। यह नियम मनुष्यों में ही हो, ऐसा नहीं है, पशु-पक्षी आदिक तुच्छ प्राणियोंमें भी यह ही नियम है, जलरहित नदीको मछलियां त्याग देती हैं, सूखे वृक्षको पंछी छोड़ देते हैं और दुष्कालके समय में मनुष्य अपने ग्राम, भूमि आदिको छोड़कर भाग जाते हैं। जिस समय स्वार्थकी सिद्धि होते नहीं दीखती उसी समय प्यारे से प्यारे को भी छोड़ देते हैं, इसलिये स्वार्थका संसार कहा जाता है, लोग प्रतिदिन इस बात का अनुभव भी करते हैं परन्तु यथार्थ में स्वार्थी संसारके स्वरूपको भूल जाते हैं, स्वार्थ भी एक प्रकार

का नहीं है, कई प्रकारका है, जिस किसीसे किसी प्रकार का भी स्वार्थ होता है उसीसे सम्बन्ध—प्रेम—मेल होता है, इस संसारमें सब प्रकार के स्वार्थका हेतु धन है, धन से सांसारिक स्वार्थकी सिद्धि होती है और कोई कोई तो यहां तक कहते हैं कि स्वर्ग-लोककी सिद्धि भी धनसे ही होती है। दया, दान, धर्म, यज्ञ आदि परोपकार के कार्यों में मुख्य धन ही है, धन हो तो और सामग्री प्राप्त होसकी है, सारांश यह है कि संसारमें जैसा उपयोगी धन समझा जाता है, ऐसा उपयोगी अन्य कोई पदार्थ नहीं समझा जाता।

मनुष्य जन्म लेकर जैसे २ बढ़ता जाता है, बुद्धि संसारकी तरफ़ विकाश वाली होती जाती है, वैसे २ उसे सुख प्राप्त करने की इच्छा होती जाती है, अपनी समझके अनुसार अन्यको सुखी मानकर ऐसी इच्छा करता है कि इसके समान मुझे भी प्राप्त हो, परन्तु जब देखता है कि उस इच्छाके पूर्ण करनेका सामर्थ्य-अवस्था मुझमें नहीं है तब बाल्यावस्था में आरम्भ में दुखी होता रहता है, जब युवान होता है तब सुख प्राप्त करने की इच्छा से अनेक प्रकार के उद्यम में लग जाता है, जैसी जिसकी बुद्धि होती है, जैसी जिसकी योग्यता होती है और जिस प्रकार के सहायक-संयोग प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार के उद्यम में वह लगता है, कभी उद्यम निष्फल होता है, कभी अर्धफल होता है और कभी इच्छा-नुकूल पूर्ण फल प्राप्त होता है, जब उद्यम निष्फल होता है तब फिरसे यत्न करता है, अर्ध फलवाला भी पूर्ण फलके लिये प्रयत्न

करता है और पूर्ण फलवाला विशेष फलके लिये प्रयत्न में लगता है, इस प्रकार सब ही उद्यम करते हैं, किसीको न्यून किसीको बहुत अधिक मिलना प्रारब्ध के अनुसार होता है, जो जितनी कमाई करके लाता है उतना ही स्त्री पुत्रादिक कुटुम्बी जिनमें उस कमाईका उपयोग होता है, उसे चाहते हैं। कुटुम्बियों का जिस व्यक्तिसे अधिक लाभ होता है, उसको वे विशेष चाहते हैं, इसीसे कहा जाता है कि कमाऊ बेटा सबको प्रिय होता है।

जब तक घरका बोझ शिर पर नहीं पड़ता तब तक ही विद्या हुनर आदि जो कुछ सीख लिया हो, वह ही सीखने पाता है, पीछे जब घर चलानेका जूआ कंधे पर आ पड़ता है तब किसी न किसी उद्यम में ही लगना होता है क्योंकि धन बिना संसार में निर्वाह नहीं होता। कहा है कि धनसे नीच कुलवाले उच्च कुलमें गिने जाते हैं, धनसे बहुतसी लौकिक विपत्तियों से भी मनुष्य बच जाता है, हित करनेमें श्रेष्ठ ऐसा धनके समान और कोई बांधव नहीं है इसलिये धन सम्पादन करो। घरके कुटुम्बी माता, पिता, भाई, भतीजे, स्त्री, पुत्र, बहिन और भोजाई जो निकटके सम्बन्धी हैं, जो अपने सुखके साधन हैं, वे भी अपना स्वार्थ लेकर ही प्रीति करते हैं। शास्त्रमें जिन्हें गौणात्मा कहा है, ऐसे पुत्रादिक भी पिता पर जो प्यार करते हैं तो स्वार्थसे ही करते हैं। जो अच्छी कमाई करता हो, माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक का भरण पोषण करता हो, जेवर बनवाता है; ऐसा पुत्र; पति, पिता प्यारा लगता है। कांचनमें जगत्‌की प्रसन्नता है। धन प्राप्तिमें अनेक प्रकारका

परिश्रम है तो भी उसे सहन करके जब तक कुटुम्बी और मित्रादि के काममें आता है तब तक वह सबका प्यारा बना रहता है, सब उस पर प्रेम करते हैं, उसकी इज्जत करते हैं और उसीको कुलीन समझते हैं, सब सम्बन्धी आज्ञा उठाने को तत्पर रहते हैं परन्तु जब कमाई करने से रहित होजाय, शरीरादिक खंडित होकर कमाई करने योग्य न रहे, तब वे ही कुटुम्बी जिसको सबसे अधिक प्यारा समझते थे, उस पर ही तिरस्कार की वर्षा करने लगते हैं। जगत् नाटक में जहां प्रेम, विनोद का परदा पड़ा हुआ था, वहां से वह परदा उठ जाता है और उसके स्थान पर शोच, कलह, उदासीनता और तिरस्कार का परदा पड़ जाता है। श्रुतिमें भी कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, राजा, देवता और वेद प्राणी मात्रको अपने निमित्त ही प्रिय होते हैं। निर्धन जिससे अपने स्वार्थकी सिद्धि न हो, वह किसको प्यारा लगे ? मनुष्य मनुष्यको नहीं पूछते, धन वालेको पूछते हैं, जिससे अपने खान पानादिक स्वार्थकी सिद्धि हो, वही पूछा जाता है। जगत्में यहां तक देखा है कि सद्गुणी, भजन करने वाले पिता, पुत्र अप्रिय होते हैं और दुर्गुणी, ढोंगी, ठग, चोरी करके भी धन ले आने वाला हो तो प्रिय होता है। जगत् में इतनी अन्धता फैली हुई है कि अपने स्वार्थ के सामने सम्बन्ध तुच्छ समझा जाता है, धर्मको अधर्म मानते हैं, शास्त्र और संत्पुरुषों के वाक्यों को भी नहीं सुनते ! उनको तो स्वार्थ और स्वार्थ सिद्धिका साधनरूप कांचन ही प्यारा होता है। धन

रहितका जीवन व्यर्थ है क्योंकि धन विना स्वयं उसके कुटुम्बी भी कुटुम्बी नहीं रहते ।

ऐसा होने पर भी कुटुम्बमें मोह करना दुःखका ही हेतु है। मोह अन्धकार रूप है, कुटुम्बी उसके पात्र हैं, स्त्री, पुत्र, पुत्री आदिमें लगी हुई आसक्ति ही पुनर्जन्म और नरकमें जानेका हेतु है, मोह, अंधकूप के समान होने से, स्वयं नरक रूप है। उसके सेवाका फल भी नरकप्राप्ति रूप ही होता है। जब तक शरीर में सामर्थ्य है, धन कमानेकी शक्ति है तब तक ही हम सबको प्यारे लगते हैं। जब शरीर का सामर्थ्य घट जाता है; धन कमाकर लानेकी शक्ति नहीं रहती, अथवा शरीरसे अंग रहित होते हैं, जरा अवस्थासे घिर जाते हैं तब घर में कुछ इज्जत नहीं रहती, किसी बातकी सलाह सम्मतिमें भी कोई अनुमति नहीं लेता। घरमें सब नाखुश रहते हैं, बेकार मनुष्य समझते हैं, कोई सुख दुःखको भी नहीं पूछता, फालतू मनुष्य शिर पर बोझा रूप समझा जाता है। शक्तिहीन अवस्था में स्त्री पुत्रादिक भी पागल बताते हैं। 'बुड्ढे की बुद्धि बिगड़ गई है, साठी बुद्धि नाठी ! रात भर खों २ किया करता है, घर वालोंको सुखसे सोने भी नहीं देता, जब देखो तब बकता ही रहता है !' इत्यादि अनेक कुवचन सुनाते हैं। जो लाखका था, असमर्थ होनेसे कौड़ी का भी नहीं समझा जाता। आज कलके छोटे छोटे लड़के और आई हुई बहुयें बुड्ढे को तिरस्कार करते हैं। बुढ़ापे में ये बात सहन नहीं होती, अत्यन्त दुःख होता है परन्तु असमर्थ होनेसे कुछ कर नहीं सकता।

जो कोई सज्जन कुटुम्बी होते हैं, वे मुख पर तो कुछ नहीं कहते परन्तु जीव में दुखी ही होते हैं। आजकल के तो बुड्ढे के मुखपर सुना देते हैं "मरता भी नहीं, पीछा ही नहीं छोड़ता।" कोई कोई हृदयमें प्रेम न होते हुये लोक लज्जाके डरसे ऊपर ऊपरका कुछ काम कर देते हैं, बनावटी प्रेम दिखलाते हैं और कई स्थानों पर तो जैसे कुत्ते को रोटी फेंक देते हैं; इसी प्रकार बुड्ढे का निरादर करते हैं। यदि कोई कहे तो कह देते हैं कि क्या करें? वह मलिन रहता है, चौके में उसे किस प्रकार भोजन करावें? और कई निर्लज्ज स्त्री पुत्र तो बुड्ढे को रोटी तक नहीं देते! बुढ़ापेके जीवन में जैसी विपत्ति और जो जो दुःख होता है उसका यथार्थ बोध तो बुड्ढे ही को हो सकता है। बुढ़ापेमें तृष्णा बढ़ जाती है, बुड्ढा ऐसा चाहता है कि कुटुम्ब वाले मेरी इज्जत करें किन्तु कुटुम्ब वाले उलटी उसकी बेइज्जती करते हैं! घर में कोई बात नहीं पूछता। इसलिये सज्जनो, यदि तुमको इस प्रकार के कष्टों से बचने-की इच्छा हो तो जिस समय तुममें सामर्थ्य है उसी समय में ईश्वरकी शरण लो, ईश्वरका भजन करो, भजन से ही तुम्हारा उद्धार होगा। कुटुम्बियोंका भजन, बुढ़ापे में अथवा मरणके समय कुछ काम नहीं आवेगा। सच मानो, जिन्हें तुम अपना कहकर प्यार करते हो और वे जो तुमको अपना समझते हैं, वह सब स्वार्थ से हैं। तुम्हारा कोई नहीं है, तुम्हारे काम में आने वाला कोई नहीं है, तुम चाहते हो कि बुढ़ापेमें भजन करेंगे, यह बन नहीं सकता क्योंकि जहां कष्ट होता है, वहां आंतर मन जला

करता है, तो भजन कैसे होगा ? जब शरीर और इन्द्रियां शिथिल हो जांयगी तो ईश्वरका भजन कैसे होगा ? बुढ़ापेमें थोड़ा बहुत भजन वह ही कर सकता है, जिसने कुटुम्ब आदिक की आसक्ति तो कम करके सशक्त शरीरमें भजन किया होगा। सभी बुड्ढे होते हों, यह नियम भी नहीं है, बहुतसे बुढ़ापा आनेसे प्रथम ही कालके धाम में पहुँच जाते हैं इसलिये प्रथमसे ही भजन में लगना चाहिये।

हाय ! सुख रूप देखनेमें आता हुआ संसार किस २ प्रकारके दुःख उत्पंन्न करता है। सुख देने वाले संबंधी भी हमेशा के स्वार्थ के वश होनेसे कैसा २ दुख उत्पन्न करते हैं। यदि कोई वर्षा की धारा की गिनती करना चाहे तो कदाचित् कर भी सके; परन्तु इस दुःखका कोई माप निकाल नहीं सक्ता ! परिवार का प्रेम कैसा है ? प्रथम यह विचार में नहीं आता, इसलिये जब तक सामर्थ्य रहता है तब तक कुटुम्ब-परिवार में ही सब प्रकारकी प्रवृत्ति हुआ करती है, ऐसी प्रवृत्ति वाले को ईश्वर भजन नहीं सूझता और जब बुढ़ापे में अनेक कष्ट पड़ने से सूझता है तब कुछ हो नहीं सक्ता ! इस प्रकार बहुत जन्मोंके बाद प्राप्त हुआ अनमोल्य मनुष्य जन्म व्यर्थ ही जाता है। विद्वानोंने निश्चय किया है कि धन से जितना अर्थ होता है, उससे अनर्थ विशेष होता है। ऐसे धनसे होने वाली कुटुम्बकी प्रीति अनर्थ और क्लेश उत्पन्न करे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कुटुम्बियोंकी सार संभाल करने और उनको अपने अनुकूल रखनेमें ईश्वरका भजन नहीं होता और अनेक जन्म-मरणोंका

अधिकारी होना पड़ता है और अशक्त दशामें स्त्री पुत्रादिक के अपमानसे, खाने-पीनेकी लालसासे और आशाके तरंगों से पश्चात्तापसे शेष जीवन दुःखमय व्यतीत होता है।

प्रेमीलाल नामका एक वैश्य था। उसके चार पुत्र थे और तीन लड़कियां थीं, वैश्य सामान्य स्थिति का मनुष्य था, एक छोटीसी दुकान से अपना निर्वाह करता था। प्रारब्धवश उसका धन्धा चेता और छोटी दुकान के बदले बड़ा गोदाम होगया। आढ़तका काम खूब चलने लगा, परदेश में भी दो दुकानें खोली गई, थोड़े ही दिनों में वह लक्षाधिपति होगया। जैसे जैसे वह पैसेमें बढ़ता गया ऐसे ऐसे कुटुम्बमें भी बढ़ता गया। कुटुम्बियों में उसकी पूर्ण आसक्ति थी। व्यवहारिक शब्दों में कहा जाय तो वह कुटुम्ब-वत्सल था। लड़के सब छोटे थे; उनको वह लाड़ लड़ाता था, जो कुछ वे मांगते थे, वह ही देता था, यहां तक कि उनकी किसी प्रकारकी मांगनी क्यों न हो, उसको पूरा करने में चूकता न था इसलिये सब बाल बच्चे प्रसन्न रहते थे, स्त्री भी प्रसन्न थी। भाई भतीजे आदिक अन्य कुटुम्बियोंको भी वह धन से, पदार्थोंसे प्रसन्न रखता था इसलिये उसको सब प्यार करते थे, कुलका दीपक समझते थे, ज्वार भाटेके समान लक्ष्मीका हाल है, आती है तो सब तरफसे चली ही आती है और जाने लगती है तो जाने में भी देर नहीं होती चारों तरफ से खिंच कर चली जाती है। प्रेमीलाल का सितारा थोड़े वर्ष चमक कर मन्द होकर लुप्त होनेकी तैयारी में था। लड़के इस समय बड़े होगये थे

परन्तु अभी तक कुछ कमाई नहीं करते थे क्योंकि अत्यन्त लाड़में रहनेसे पढ़े लिखे न थे, सद्गुण और विवेक भी न था। प्रेमी-लाल के धन्धे में टोटे पर टोटा होने लगा। पुत्रादिक की मांग घटी नहीं, उलटी बढ़ती गई। प्रेमीलाल हीन दशामें भी उनको नाखुश करना नहीं चाहता था, उधार ला लाकर देता रहा। थोड़े दिनोंमें लोगों का कर्जा बढ़ गया, दुकान गोदाम सब टूट गये, स्त्रीने जो कुछ ले लेकर जमा किया था, दाब बैठी, मकान जागीर जो कुछ खरीदी गई थीं सब कर्ज वालोंने ले ली, प्रेमी-लाल धंधेसे रहित हुआ। कुटुम्बको नित्य खानेको तो चाहिये ही, वह न होनेसे घरमें रोज झगड़ा होने लगा। जो स्त्री प्रेमीलाल पर बहुत प्रेम करती थी, अब वह ही दहकते हुये अंगारेके समान उसे जलाती थी, कटु वचन सुनाती थी। पुत्र भी प्रेम से नहीं बोलते थे। जो कहता सो 'ला, ला' ही कहता था प्रेमीलाल धन्धे के लिये बहुत प्रयत्न करता था, परन्तु धन्धा नहीं लगता था। अच्छी हालत में जो जो कुटुम्बी उसके पाससे धन-माल ले जाते थे और अपना काम निकालते थे, अब वे ही लक्ष्मीदेवीकी अकृपा देखकर रूठ गये। प्रेमीलाल उनसे मिलने जाता तो वे लोग मुख छिपा लेते थे। कोई प्रेम से न बोलता, प्रेमीलालको देखते ही समझ जाता था कि कुछ मांगनेको आया है। अन्तमें सब प्रकारसे दुखी होकर उसने किसी के यहां नोकरी करने का निश्चय किया। धनके नाश और कुटुम्बियों के त्राससे उसकी बुद्धि विचलित हो रही थी, शरीर से अशक्त होगया था,

और बुढ़ापेके द्वारमें घुस चुका था। धनाढ्यावस्थामें उसका शरीर अत्यन्त सुकुमार हो गया था, भला नोकरी क्या कर सकता था? दुःख पड़नेसे इन्द्रियां शिथिल हो गई थीं, आंखोंसे कम दीखने लगा था, उसकी मूरत देखते ही नोकरी रखने वाला नोकर रखनेको मने कर देता था। विचारेने साल भर दुःखसे काटा। अब कुटुंबका क्या होगा? मेरा जीवन कैसे बीतेगा? ऐसी चिन्तासे उसे कुछ सूझता न था, सब प्रकारसे तिरस्कार होने पर भी कुटुम्बियोंकी तरफका प्रेम निवृत्त नहीं होता था। शरीरकी शक्ति घट गई थी, खाटपर पड़े रहनेके सिवाय उससे और कुछ नहीं होता था। जब सब अंग अशक्त होगये थे तब चिन्ता और कुटुम्बका त्रास प्रबल हो गया था। दांतों से खाया जाय नहीं, घरवाले तिरस्कार सहित बासी कूसी रोटीके टुकड़े खानेको दें, बिचारा शिर पीटे, रोवे, परन्तु निर्दय कुटुम्बी स्त्री पुत्रादिको दया न आवे! पड़ोस वाले जब स्त्रीसे कहें कि बुड्ढे को दुःख न दो तब जवाब देनेमें निपुण स्त्री उत्तर देती "मैं कहां से खिलाऊं? साल भर तो बैठे २ खिलाते होगयां, कुछ लाया हो तो बतावे? खटिया तोड़ता रहता है, बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, क्या अपना मांस काट २ कर खिलाऊं? हमारे घरकी बात हम ही जानते हैं, तुम क्या जानो? नहाय न धोवे, मैला रहता है, खों २ किया करता है, हम उसकी सार संभाल कहां तक करें? जरा जरासी बात पर बकने लगता है, वह तो चाहता है कि घरमें बैठा २ देवताके समान पूजा जाऊं, कुछ घरमें धरा होय,

या लाता हू,य तो खिलावें ! बच्चे छोटे २ हैं, अभी काम धन्धेमें लगे नहीं हैं, मेरे पास जो था सो सब खिला चुकी हूं !" ऐसे बचन सुन कर पास पड़ोसी चुप हो जाते थे ।

एक दिन प्रेमीलालको बुखार आया, खाट पर पड़ा२ चिल्लाने लगा । स्त्री और लड़कोंमें से कोई पास न आया । बिचारा पानी मांगते २ थक गया, किसीने पानी न पिलाया । कै पर कै हुई, उठनेकी शक्ति थी नहीं, खाट पर बैठे २ नीचे कै कर दी । थोड़ी देरमें दस्त आने लगे, उठ कर जाना चाहे परन्तु जाया न जाय, जाने लगा तो खाटके नीचे गिर गया, वहां ही टट्टी हो गई । बेहोश होकर गिरा तो भी किसीने खबर न ली, शिरमें चोट आ गई । थोड़ी देर बाद होश आया तब 'पन्ना पन्ना' करके बड़े लड़के को पुकारने लगा । पन्ना आया तो सही परन्तु दुर्गंधिके मारे पास न आते हुये दूरसे ही भाग गया । बुड्ढेकी बात सुननेको भी खड़ा न रहा, जाकर अपनी मांसे कहा । वह वहांसे विकराल बाघनीके समान स्वरूप धारण करके दनदनाती हुई बुड्ढके पास आई । कै लोहू और मलसे लिपटे हुये बुड्ढेको नीचे पड़ा हुआ देखकर बोली "मरता भी तो नहीं है ! पीछा ही नहीं छोड़ता ! इस गंदगीको कौन उठावेगा ? सड़ा कर इसमें ! क्या तूने मुझे भंगन समझा है ? पड़े पड़े खाना और हगना यह ही धन्धा ले बैठा है !" बुड्ढा बोला, बात बातमें क्यों चिढ़ती है ? मेरी हालत तो देख ? बुखार चढ़ा हुआ है, मुझमें सामर्थ्य नहीं है, पानी मांगा, किसीने न दिया, पराये मनुष्य भी तो

ऐसे निठुर नहीं होते। स्त्री मुख बिगाड़ कर बोली "हां! निठुर हैं तो निठुर ही सही, कमाई करके थोड़ा ही खिलाता है, गुलाम रखते हैं तो उसे भी खिलाना पड़ता है, बिना खिलाये मैं तेरी गुलामड़ी नहीं हो सकती। जा मर जा, मुझे तुझसे कुछ काम नहीं है।" ऐसा कह कर स्त्री वहांसे चली गई। पास वाली एक परोपकारिणी बाईने ये बातें सुनीं, वह बुड्ढेके पास आई और कहने लगी, प्रेमी काका, आपकी यह क्या हालत है? बुड्ढा शिर पीट कर बोला, बेटी, करमोंका भोग है, जब मेरे पास धन था तब सब लेने के लिये तैयार थे, अब घरकी स्त्री भी बात नहीं पूछती। बाई बोली, काका घबराओ मत। मैं पानी लाकर सब साफ करे देती हूं, और आपको खाटपर सुलाती हूं। यह कह कर बाई दौड़ी २ गई, पानी ले आई, सब साफ किया बुड्ढेने हाथ पानी लिया, बाईने माथेका रक्त धो डाला और खाटपर सुला दिया और कहा, काका, कुछ खानेकी इच्छा हो तो कहो, मैं ले आऊंगी। बुड्ढा बोला, नहीं, मुझे कुछ खाना नहीं है, लोटेमें पानी दे। परोपकारिणी बाईने ऐसा ही किया। बुड्ढा थोड़ा निश्चिन्त हो कर सो गया, तीन रोज तक उसने कुछ खाया नहीं, चौथे दिन बुखार न आया तब उसने घरमेंसे खिचड़ी खानेको मांगी, स्त्रीने खिचड़ी भी बना कर न दी, परोपकारिणी कुछ खिचड़ी बना कर ले आई, बुड्ढेने दो चार ग्रास खाये और परोपकारिणी को आशीर्वाद दिया। बुड्ढेके दो लड़के इस समय दस दस रुपये कमाने लगे थे परन्तु वे भी बुड्ढेको कुछ देते न थे। कभी सूखा

टुकड़ा मिले, कभी परोपकारिणी बाई दे जाया करे, इस प्रकार बुड्ढा दुखी दिन गुजार रहा था, एक दिन बुड्ढेने बड़े लड़के को बुला कर कहा, पन्ना, मेरी धोती फट गई है, मुझे एक धोती ला दे । पन्ना बोला, मैं धोती कहा से लाऊं ? अभी तनखा मिली नहीं है, अम्मा दो रुपये देकर मुझसे आठ रुपये छीन लेती है, दो रुपये तो मुझे खर्चको चाहिये । तुमको धोतीका क्या काम है ? तुम्हें कहीं बाहर जाना तो है नहीं । बुड्ढेने स्त्रीसे धोती मांगी । स्त्री खाने तकको तो देती ही न थी धोतीका नाम सुनते ही नाक भौं चढ़ा कर बोली, धोती, धोती यहां कहां धरी है, यों ही पड़ा रहा कर, लड़कोंकी कमाई से घरका खर्च तो चलता ही नहीं, आज यह ला, कल वह ला, आज यह खाऊंगा, कल वह खाऊंगा, अभी तक तेरी हविस ही नहीं जाती, न जाने मेरे कौनसे करमका भोग उदय हुआ है कि ईश्वरने तुझ सरीखे हीन कमाऊ बुड्ढे पतिको मेरे शिर मढ़ा है, मैं धोती फोती कुछ नहीं देती, पड़ा न रहा जाय तो निकल जा घरमें से । रात दिन टांय २ किया करता है, मान चाहता है, इज्जत चाहता है, वे दिन गये । कुछ ले आता होता, कपड़ा जेवर कुछ बनवाता होता तो तेरे हुक्मको उठाते, अब तो हमारा हुकुम उठाना पड़ेगा, हम कहेंगे सो ही करना पड़ेगा, तब ही रोटी मिलेगी ! क्या करूं ? मैं तो तुझे रोटी तक न देती परन्तु बेइज्जती के डरसे देनी पड़ती है । बुड्ढा भी तांव में आकर बोला, जिन्दगी भर लेती रही, खाया, पिया, जेवर बनाया, सब कुछ किया करांया; मिट्टीमें मिल

गया बुढ़ापेमें अब मुझसे क्या हो सक्ता है ? स्त्री आंख निकाल कर बोली, पेटके बाल बच्चोंका थोड़े दिन पोषण किया, उसमें किस पर अहसान किया ? जब लाता था तब हमसे आराम भी पाता था, कुछ तूने जमा कर रक्खा है ? क्या खज़ाना भरा हुआ है ? लाया और गया, हमारे पास कहां रहा ? हम तुझे कहां से दें ? तेरी सड़ी २ बातें हम नहीं सुनेंगे। बुड्ढा स्त्री के स्वभाव को जानता था, विचारा चुप हो गया। चुप न होता तो उसी समय स्त्री खटिया सहित बुड्ढे को बाहर निकाल देती। ऐसा प्रसंग प्रति दिन आता था, किसी दिन बुड्ढे को समय पर और खा सके, ऐसा खान पान नहीं मिलता था। कपड़ों का दुःख अलग मच्छरोंका दुःख अलग, मनुष्य शरीरमें ही उसे नरक के दुःखका अनुभव होता था। लड़के लड़कियों में से न तो कोई बुड्ढे के पास आता, न कोई उसका काम करता था। उन लोगोंने तो घरके बाहरके भाग में कोई भूत बैठा हो, इस प्रकार समझ रक्खा था। बुड्ढको परोपकारिणी बाई का ही कुछ सहारा था। वह घरवालों से डरती थी क्योंकि बुड्ढे का कार्य करते हुये देख कर वे उसे भी कटुवचन सुनाते थे। सारांश यह है कि बुड्ढा सब प्रकार से निराश और दुःखी था। परोपकारिणी बाई उससे ईश्वर का भजन करने को कहा करती थी परन्तु अनेक चिंताओंसे जलती हुई होली में बुड्ढेसे भजन किस प्रकार हो ? बुड्ढे से भजन न हुआ और अन्त में दुःख पाकर बुरी हालत से मरा।

जितना दुःख बुड्ढे का ऊपर वर्णन किया गया है, प्रत्येक को

इतना ही दुःख भोगना पड़ता हो, यह नियम नहीं है घरवालों के स्वभाव के अनुसार दुःख होता है। कुटुम्बी सज्जन होते हैं तो दुःख कमती होता है परन्तु सज्जन कुटुम्बियों का संबंध भी दुःख रहित नहीं होता। वे प्रत्यक्ष में तिरस्कार नहीं करते, ऊपर से हां जी हां किया करते हैं परन्तु हृदयमें उनको भी प्रेम नहीं होता। नई आई हुई बहुओंको तो बुड्ढों पर प्रेम हो ही कहां से ? वे तो बुड्ढों का काम वेगार समझती हैं, अरे ! वेगार से भी तुच्छ समझती हैं क्योंकि वेगारमें तो अधिकारियोंका दबाव होता है, बुड्ढों के कार्यमें तो किसी का दबाव भी नहीं होता। कोई बुड्ढा कुछ कहे तो समझती हैं कि कौवे के समान टें २ किया करता है। जगत्की आसक्ति वाले को बिना स्वार्थ कार्य करना इसा प्रकार का होता है। शास्त्रों का वचन है कि बुढ़ापेमें माता पिता की सेवा करना चाहिये परन्तु शास्त्रके वचनको कलियुग की प्रजा मानती ही कब है ? कई तो लोक लाज से बुड्ढे बेकार मनुष्यों का काम करते हैं, कई धन के लालच से काम करते हैं। जिस किसीने धन कमा कर रक्खा हो, उसके कमाये हुये धन से सबका पालन पोषण होता हो और सब धन उसके काबू में हो, उसका काम तो होता है परन्तु उस पर प्रेम कोई नहीं करता। जो कोई बुड्ढा अपना सब धन लड़के वालों को सौंप देता है तो वे उसे अपना समझने लगते हैं और उसमेंसे खर्च होने में ऐसा समझते हैं कि हमारा धन कम होता है, इसलिये बुड्ढेके लिये खर्च नहीं करते। जब बुड्ढा कहता है कि मेरी कमाई का है तो लड़के उत्तर देते हैं कि

अब तेरा कहां है ? वह तो हमारे प्रारब्धका था, हमारे पास आ गया । अब तो हमारा ही घटेगा ! तेरा क्या घटेगा ?' विवाह, शादी, लेन, देन, सलाह मसोदेमें बुड्ढे को कोई नहीं पूंछता । बुड्ढा ऐसा देख कर अपने जी ही जीमें जलता है। कमाई करके रखने वालोंका भी जब यह हाल है तब जिसने कुछ रक्खा नहीं है, उसके दुःखका क्या ठिकाना ? कमाई रहित पति को पत्नी घर से निकाल देती है, बूढ़ी स्त्री पर पतिका प्रेम नहीं होता और पुत्र पुत्रियां भी बुड्ढे पिताको घर से निकाल देती हैं। इस अवस्था में ईश्वर सिवाय अन्य कोई सहारा नहीं देता। ईश्वर भी इस समय रूठ जाता है, प्रथम न भजने से बुढ़ापेमें भजा नहीं जाता। कष्ट जितना हो उससे भी विशेष प्रतीत होता है। जन्म और मरणके दुःखको सब विशेष बताते हैं परन्तु बुढ़ापे के दुःखको देखते हुये उसके सामने जन्म मरण का दुःख भी तुच्छ है।

यदि किसी सज्जन स्त्री-पुत्रादिक से दुःख न भी हो तो शारीरिक दुःख तृष्णा और चिन्ताका दुःख बुढ़ापेमें कुछ कम नहीं है। उस दुःखसे भी बुड्ढा मनुष्य जलता ही रहता है ईश्वर भजन करना नहीं चाहता और चाहे तो भी हो नहीं सक्ता। जिसने प्रथम अवस्थामें भजन किया हो, कुटुम्बियोंकी ममता कम कर दी हो, उसीसे बुढ़ापेमें भजन हो सक्ता है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे मूढ़ ! तू अपने बाल बच्चों, कुटुम्ब, धन और सम्पत्ति पर अनेक आशाय बांध कर क्यों बैठा हुआ है ? बुढ़ापेमें वे कुछ काम नहीं आवेंगे ! तू उनके भरोसे मत बैठ, बुढ़ापे में वे तेरी बात भी नहीं

पूछेंगे ! उसके बादकी मरणावस्थामें भी वे काम न आवेंगे ! उस समय तो ईश्वर भजन ही काम आवेगा इसलिये समर्थ अवस्थामें ही ईश्वरका भजन कर ! बुढ़ापेका आना भी निश्चित नहीं है क्योंकि जैसे कमलके पत्ते पर जलका बिन्दु नहीं टिकता: इसी प्रकार आयुष्य चंचल है ! जैसे बिन्दुके गिरनेमें देर नहीं लगती; इसी प्रकार शरीरके गिरनेमें भी देर नहीं लगती, इसलिये निर्मल मनसे शरीर और कुटुम्बियोंकी विशेष आसक्ति को छोड़कर ईश्वर भजनमें लग जा ! ईश्वर भजनसे संसारी दुःख न्यून होता है और परलोक भी सुधरता है । भक्ति, ज्ञान और वैराग्यसे ईश्वर प्रसन्न होता है इसलिये शम, दम आदि साधनोंसे युक्त होकर ईश्वरको भजना चाहिये । बुद्धिकी जड़तासे यदि ईश्वरका सूक्ष्म स्वरूप समझ में न आवे तो स्थूल रूपका ही भजन करना चाहिये, इससे भी संसारका बन्धन शिथिल होता है, आयुष्य सुखसे व्यतीत होता है और माया और चैतन्यका विवेक करके ईश्वरका भजन नहीं करता, उसके ऐहिक और पारलौकिक दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिये ईश्वर का भजन ही सार है ।

रथ्या चर्पट विरचित कंथ

पुण्यापुण्य विवर्जित पन्थः ।

नत्वं नाहं नायं लोक—

स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥१०॥भ०

अर्थ:—मार्गमें पड़े हुये चीथड़ों को सीन कर उनकी कथा

वनाने वाला, पुण्य पापके मार्गको छोड़ने वाला, तू नहीं, मैं नहीं, यह लोक नहीं तो शोक क्यों करता है ? गोविन्दका भजन कर।

चौहट चिथड़न कंथा कीन्हा।
पाप रु पुण्य रहित पथ लीन्हा ॥
तू नाहिं, मैं नाहिं, नाहिं यह लोका।
तो किस हेतु कीजिये शोका ॥ १० ॥ भज०

जगत्में दो प्रकारके मनुष्य होते हैं; त्यागी और रागी, यथार्थ स्वरूपके बोध विना दोनों में से कोई भी शोक रहित नहीं होता, त्यागसे शोककी निवृत्ति हो, अथवा रागसे शोककी निवृत्ति हो, ऐसा समझना भूल है, त्यागके भावसे भी त्यागके स्वरूपको प्राप्त करने वाले वहुत कम होते हैं, ऐसे ही रागके स्वरूपको जाननेवाले भी थोड़े ही हैं। राग और त्याग दोनों ही जगत्से सम्बन्ध वाले हैं। जव तक उनका यथार्थ स्वरूप नहीं समझा जाता तव तक उन दोनोंके फलकी सिद्धि नहीं होती। राग और त्याग एक दूसरे से निवृत्त होकर जव परमात्मा में दृढ़ राग होता है तभी स्वरूप का वोध होता है, स्वरूप के वोधके सिवाय करोड़ों उपायों से भी शोककी निवृत्ति नहीं होती, जिसने सवका त्याग कर दिया है, किसीसे मांगता भी नहीं है, ऐसा कोई भिक्षुक चौराहे परसे रद्दी समझकर लोगोंके फेंक दिये हुये ऐसे जो फटे, पुराने, मैले कुचैले कपड़ों के टुकड़ोंको वीन कर सीकर गुदड़ी बनानेवाला और उसे पहनकर शीत निवारण करने वाला भी शोक को नहीं

छोड़ता, अन्य स्थान पर पड़े हुये चीथड़ों से चौराहे के चीथड़ोंकी विशेषता है क्योंकि भूत प्रेतादिका उतारा चौराहे पर रक्खा जाता है, इसलिये चौराहे पर पड़े हुये पदार्थोंमें विशेष अशुद्धता होती है, ऐसी अशुद्धताको भी न समझने वाला जिसने पुण्य पापके मार्गको छोड़ दिया है, ऐसे भिक्षुकको भी आत्म बोध बिना शोक होता ही है, इससे यह दिखलाया है कि जिसके पास कुछ समृद्धि है, उसे उस समृद्धिके कारण शोक होना संभव है, जिसके पास कुछ है नहीं, चीथड़ोंकी गुदड़ी बनाकर ही शीतका निवारण करने वाला है, गुदड़ी भी ऐसी है कि कोई चुरा कर नहीं ले जा सक्ता, तो ऐसे मनुष्य को शोक क्यों होना चाहिये ? ऐसा नहीं है, चाहे कोई पदार्थ पास हो या न हो, शरीर इन्द्रियोंका निर्वाह सबको लगा हुआ है, इसलिये वह शोक से रहित नहीं होसक्ता और पाप पुण्य के मार्गका विचार करके चलने वाले को शोक होना संभव है क्योंकि कोई कार्य पुण्यका बनता है, कोई नहीं बनता, पापका कर्म भी न चाहते हुये बन जाता है इसलिये उसको शोक होना चाहियें, परन्तु जिसने पाप पुण्य के भावको छोड़ दिया है उसे शोक क्यों होना चाहिये ? यह बात भी नहीं है, वह भी शोक रहित नहीं होता, जब तक देहासक्ति है तब तक शोक रहित नहीं होसक्ता। जिनका फल स्वर्गादिक उत्तम लोकों की प्राप्ति, सुख अथवा ऐश्वर्य हो, ऐसे शास्त्रानुकूल कर्म पुण्यकर्म कहलाते हैं और जिन करके नरकादिककी प्राप्ति हो, अधम योनि-जातिमें जन्म अथवा दुःखकी विशेषता जिनका फल हो, ऐसे कर्म पाप

कर्म कहलाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ से इन कर्मोंका सम्बन्ध है और चौथा जो संन्यस्त आश्रम है, वह अतीताश्रम होने से उसमें शास्त्रविहित कर्म करने नहीं होते और कर्म करके अथवा न करके बन्धन भी नहीं होता, ऐसी परमहंस दशाको प्राप्त संन्यासी आचार, विचार की भी परवा न करके विचरता रहता है, ऐसी दशा वाले परमहंस और शास्त्र के अनुकूल संन्यस्त धर्म को आचरण करनेवाले मैं, तू और ये सब लोक वास्तविकमें हैं नहीं, तब शोच किसका किया जाय ? मतलब यह है कि पूर्ण परमहंस दशाकी इच्छा की जाय तो व्यर्थ है क्योंकि वह उच्च दशा होते हुये भी वास्तविक तत्त्व नहीं है। व्यक्ति भाव और दशा लौकिक हैं, ज्ञान होनेके बाद विशेष कुछ नहीं है। जिसका प्रारब्ध परमहंस दशाके योग्य होता है, उसकी परमहंस दशा होती है, जिसका प्रारब्ध ऐसा न हो किन्तु भोगकी विशेषता हो तो ऐसी दशामें विचरना नहीं होता। ज्ञानमें कुछ विशेषता न होनेसे ऐसी दशा प्राप्त होनेके निमित्त शोच किया जाय तो व्यर्थ है, जो जो शरीर अथवा दशा दीखती है, आभास मात्र है, आभास मध्यमें दीखता है, वस्तुतः नहीं है। जो दीखता है उसका नाश होता है। सच्चा पदार्थ कभी जाता नहीं, मिथ्या अवश्य जाता है, तो ऐसे मिथ्याके लिये शोच क्यों करे ? सच्चा है ही इसलिये शोच नहीं, मिथ्या जाता रहता है, इसलिये उसका भी शोच नहीं ! मैं, तू और वह इन तीन करके सबका विस्तार हुआ है। जब जगत् ही नहीं है तो जगत्में रहे हुये मैं, तू और वह कहां है ?

जैसें एक वृत्त है, प्रथम वह था नहीं, अन्तमें नाशको प्राप्त हो जायगा, तब मध्यमें जो दीखता है, उस समय भी वह यथार्थ स्वरूप नहीं है क्योंकि सच्चेका स्वभाव है कि वह हमेशा एक ही हालतमें रहता है, सच्चेकी उत्पत्ति नाश नहीं है और जिसकी उत्पत्ति नाश है, वह मिथ्या ही समझना चाहिये, ऐसा समझने से किसीके लिये भी शोच करना नहीं रहता।

आचार्य ने जो उपदेश दिया है, वह सच्चे परमहंसके लिये तो हो नहीं सक्ता, ज्ञान रहित लौकिक दृष्टिसे परमहंसके समान भ्रष्ट रहने वाले, शुद्धा शुद्ध न देखने वाले, विचार रहित पाप पुण्य के मार्गको छोड़ने वाले, उद्धताई से घूमने वालेके लिये हो सक्ता है, उसको उपदेश देते हैं कि तू झूठा ढोंग क्यों करता है ? झूठे ढोंग से कार्यकी सिद्धि नहीं होगी ! तू अपने आत्मस्वरूप को विचार, आत्मतत्त्व में मैं, तू और वहका भेद नहीं है, तू और तेरी सब करतूत मिथ्या है ! जो तू यह कहे कि आत्मतत्त्वका बोध किस प्रकार हो ? तो उसका उत्तर यह है कि आशा ममताको छोड़कर अभिमान का त्याग करता हुआ गोविन्दका भजन कर, गोविन्द के शरण जा, गोविन्द का भजन करते करते जगत् का मिथ्यापना तुझे दृढ़ हो जायगा और बिना वेष धारण किये ही तू पूरा परमहंस बन जायगा।

जो कुछ है सो सच्चिदानन्द स्वरूप सत्य वस्तु ही है, जिसमें से अनेक आभास की प्रतीति होती हैं, उसी एक सच्चे पदार्थ में भूल से अनेक प्रकार की कल्पित वस्तुओं का आभास होता है।

जैसे तीन मनुष्य अन्धेरेमें शहरके बाहर जारहे हों, उनसे थोड़ी दूर पर एक सूखे वृत्तका ठूंठ खड़ा हो, यथार्थ ठूंठ तो अंधेरे के कारण दीखता न हो, एक मनुष्य उसको अपनी कल्पना से पर-छाई समझने लगे, दूसरा कोई मनुष्य खड़ा हुआ समझे और तीसरा भूत समझने लगे तो विशेष देखनेसे उसको आंख, नाक और लम्बा विचित्र स्वरूप उसकी कल्पना में खड़ा हो जाता है और भय भी होता है। अब विचारना चाहिये कि ठूंठमें भयका कारण कौनसा है ? भ्रांति के योग से उसमें अनेक कल्पनायें हो गई और उनका स्वरूप प्रत्यक्ष भासने लगा। जगत् भी ऐसा ही मूलका है, सत्य एक अद्वैत तत्त्व है, जिसको वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म कहा है, उस आधार में ही जगत् और जगत् की सब कल्पनायें होरही हैं। ऊपर के समान अज्ञान अवस्था में जगत्को मिथ्या मानने की बात हृदय में नहीं उतरती। एक विद्वान् ने कहा है कि सब जगत् नाश होनेके स्वभाव वाला है और शरीर भी ऐसा ही है तब मनुष्य को ऐसे मिथ्याके लिये परिश्रम क्यों करना चाहिये ? संसार में मेरा तेरा करके ही सब दुःख को प्राप्त होते हैं; जब शरीरभी अपना नहीं है तो अपना और क्या होगा ? दीपककी ज्योतिके समान यह बात सबको मालूम है, परन्तु अज्ञान रूप राक्षसके किंकर बने हुये मनुष्य जानी हुई बात परभी अमल नहीं कर सकते।

शंका:—जब सब जगह एक अद्वितीय तत्त्व परब्रह्म ही भरा हुआ है, उसके सिवाय और कुछ है नहीं और जो दीखता है, वह

मिथ्या है तब भजन करने से क्या फल होगा ? जहां सब है, ऐसे जगत्में किया हुआ भजन भी मिथ्या होगा ! शुद्ध तो लाभ हानि कुछ है ही नहीं, तब भजन करना, विधि बताना यह सब शास्त्र का कथन क्या बहकानेके निमित्त ही है ?

समाधानः—नहीं, बहकानेके निमित्त नहीं है, तू स्वयं अविद्याके अथाह जलमें बह रहा है, बहक रहा है, इसलिये अच्छा मार्ग भी बहकाने के निमित्त दीखता है। कैसी विचित्र शंका है। क्या तू अद्वितीय तत्त्व को समझ गया है ? क्या जगत् का मिथ्यापन तुझे निश्चय होगया है ? क्या तुझे एक परम तत्त्व सिवाय कुछ दीखता ही नहीं है ? ऐसा नहीं है, तू मात्र कथन करने वाला है, बोधको प्राप्त नहीं हुआ है। यदि तू बोध-को प्राप्त हुआ होता तो तुझमें शंका ही न होती। तुझे शंका है तो निशंक रूप बोध तुझे नहीं है। एक अद्वितीय तत्त्व भरा हुआ है, यह कथन उसके लिये है जिसकी अद्वितीय दृष्टि है, तुझ जैसे बहिर्मुखोंके लिये अद्वितीय तत्त्व कहां है ? एक अद्वितीय तत्त्व के सिवाय कुछ नहीं है, यद्यपि यह यथार्थ ही है परन्तु तेरे लिये नहीं है। अद्वितीय तत्त्व उसके लिये ही है, जो उसमें टिका हुआ है जो अद्वितीय तत्त्व को जान कर स्वरूप में स्थित है, उसने सब कुछ भजन कर लिया है, इसलिये अब उसको भजन करने-की आवश्यकता नहीं है, तेरी तो भोग की लोलुपता अभी निवृत्त नहीं हुई है, भजन बिना सांसारिक फलकी प्राप्तिभी नहीं है। तुझे तो सुख, भोग और ऐश्वर्य चाहिये, ये सब झूठे हों तो उनकी

प्राप्ति कराने वाला भजन भी झूंठा ठहरे। ऐसा होने से कुछ हानि नहीं है क्योंकि झूंठे की सिद्धि झूंठेसे ही होती है। यदि तू भौतिक ऐश्वयको न चाहता हो तो भजन और शुभ कर्मों को झूंठा समझ कर मत कर। मूढ़! इस प्रकार की बुद्धिसे न तो तेरे जगत् के अर्थकी सिद्धि होगी और न परमार्थकी। शुद्ध तत्त्वमें कुछ विकार नहीं, कुछ लाभ हानि नहीं है, यह सच है परन्तु शुद्ध तत्त्वसे विमुख हुये ऐसे तुझको शुद्ध तत्त्वका फल कहां है? सच है कि नरक के कीड़े को नरक ही अच्छा लगता है।

शंका:—सच्ची बात बताइये, कभी कुछ और कभी कुछ कहनेसे यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। मेरा तो यह प्रश्न है कि जब तुम सबको झूंठा कहते हो तो भजन भी उसमें आगया, वह भी झूंठा है, फिर भजन करने को क्यों कहते हो?

समाधान:—तेरा समाधान होना ही कठिन मालूम होता है, मैं जिस भाव से कहता हूँ, उस भावसे तू समझता नहीं है, फिर भी विचार, झूंठेसे झूंठे की उत्पत्ति होती है और झूंठे से ही झूंठेका नाश होता है, विरुद्ध लक्षण वाले होनेसे एकही अवस्था वाले एक दूसरेके साधक बाधक होते हैं, जगत् झूंठा होते हुये भी दुःख रूप है, जो जगत्को सच्चा मान रहा है, उसे जगत्में दुःख होता है, इसलिये वह जगत्को झूंठ नहीं समझ सकता, जैसे स्वप्न झूंठा होता है, तो भी स्वप्नमें स्वप्नको झूंठा नहीं समझ सकते, इसी प्रकार जब तक जगत् रहेगा तब तक जगत् का दुःख निवृत्त नहीं होगा, इसलिये हमारा जगत् झूंठा

होते हुये भी जो सच्चा हो रहा है उसके दुःखोंकी निवृत्ति हमारे जगत्‌की निवृत्ति बिना नहीं होती, संसारमें किया हुआ भजन सांसारिक होते हुये भी जगत्‌की निवृत्ति कर सकता है, इसी अंश में अज्ञानियोंको भजन करना चाहिये। भजन अज्ञान निवृत्ति का उपाय होनेसे भजनको सच्चा समझना चाहिये, जब स्वरूपकी प्राप्ति होजाती है तब भजनकी आवश्यकता नहीं रहती, आवश्यकता न रहना ही पारमार्थिकमें मिथ्यापन है जब तक स्वरूपकी प्राप्ति न हो तब तक भजन को झूठा न समझना चाहिये किन्तु कल्याण करने वाला समझना चाहिये। जैसे भूत झूठा है झूठे भूतका उपाय भी झूठा है, झूठा भूत झूठे उपायसे भाग जाता है। जो भूत को सच्चा समझता हो, उसे भूतकी निवृत्तिके उपायको भी सच्चा समझना चाहिये। यदि झूठा समझेगा तो भूतकी निवृत्ति कभी भी न होगी। सच्ची बात सचमें होती है, झूठमें नहीं होती, सच्ची अथवा झूठी कोई बात है नहीं, अधिकारीके भेदसे सच्ची और झूठी है, जैसा अधिकारी हो, उसके लिये जो उसके उपयोग में आवे, वह ही बात सच्ची है वह ही अधिकारी जब ऊंचे दर्जे में पहुँचता है तब नीचे के अधिकार वाले की बात उसके लिये उपयोगी न होने से उसके लिये ठीक नहीं होती, शास्त्र की सब रचना इसी प्रकारकी है, जो जैसा अधिकारी होता है उसको वैसा ही उपदेश दिया जाता है, तत्त्व में तो उपदेश, उपदेशक और उपदेशका ग्रहण करने वाला सब एक रूप ही है, परन्तु ऐसा एकसा उपदेश सबको नहीं होता। जो तुझे जगत्‌के भोग और

स्वर्ग प्राप्तिकी इच्छा हो तो शास्त्रके अनुसार शुभ कर्म और ईश्वर-भजन कर, जो तुझे परलोक-स्वर्गके ऐश्वर्यकी इच्छा हो तो उपासना रूपसे गोविन्दका भजन कर और यदि मोक्षकी इच्छा हो तो मोक्षका अधिकारी होकर निर्गुण ब्रह्म ऐसा जो गोविन्द है, उसका भजन कर। कोई भी औषधि सच्ची या झूठी नहीं होती जैसा रोग होता है वैसी औषधि होती है, जिस रोगकी जो औषधि है, वह उस रोगके लिये सच्ची है और अन्य रोगोंके लिये झूठी है, इसी प्रकार शास्त्र-वाक्योंको भी समझ।

शास्त्रमें अनेक युक्तियोंसे तत्त्वको समझाया है, जिस तत्त्वका जगत है उसी तत्त्वका शरीर है, अपने शरीरको समझनेसे सब जगत् समझा जाता है और जगत्को समझनेसे अपने शरीरको समझा जाता है। इस जगत्का मूल तत्त्व अव्यक्त चेतन है, उसमें किसी प्रकारका विकार न होते हुये, मध्यमें कुछ आभास प्रतीत होता है और अंतमें सबका लय उसी शुद्धतत्त्वमें होजाता है। तत्त्वमें विकार, उत्पत्ति अथवा नाश कुछ भी नहीं है, उस तत्त्वको जानना ही तत्त्व बोध है, तत्त्व बोध अज्ञान हटानेके लिये है। सब कोई शोक करते हैं और वास्तविक तत्त्वमें कुछ हुआ है नहीं तो शोक करना मिथ्या ही है, ऐसा जानते हुये भी शोक होता है, शोक निवृत्त करनेका गोविन्दके भजन सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, एकत्व भावसे, भिन्न भावसे और सर्व भावसे भजन हो सकता है। इनमेंसे किसी भावसे अपनी योग्यतानुसार भजन करना चाहिये क्योंकि भजन सर्व सिद्धियोंका दाता रसायन है।

एक समय एक तपोभूमिमें चारों दिशासे चार साधु आये। चारोंका रूप, रंग, क्रिया, वेष आदिक विचित्र थे, चारों एक दूसरे से मिलते न थे तो भी उन चारोंमें एक प्रकारकी साम्यता थी। चारोंने एक वृक्षके नीचे रात्रि व्यतीत करनेका निश्चय किया। प्रथम तो चारोंने जंगलमेंसे फल कंदादिक लाकर कन्दको अग्निमें भूनकर और फलोंको वैसे ही खाकर पानी पिया, पाससे लकड़ियां काटकर, रात्रि भर धूनी जले इतनी जमा कर लीं, जाड़ोंके दिन थे, रात्रि होगई थी, बीचमें धूनी जल रही थी और धूनीकी चारों दिशाओंमें चारों साधु अपना अपना आसन लगाकर बैठे थे। उनमेंसे एक साधु बोला 'भाइयो, हम चारों साधु हैं, प्रथम कभी मिले नहीं हैं, चारों दिशाओंसे चारों आये हैं, हम सब ही घूमे हुये मालूम होते हैं, गृहस्थ लोग हमको त्यागी कहते हैं, चारों ने अनेक रंग ढंग देखे हैं, अनुभव किया है, इसलिये इस स्थान पर हम चारोंको अपने२ अनुभवका वर्णन करना चाहिये, गृहस्थी छोड़नेके बाद घूमते हुये अथवा किसी स्थान पर टिककर क्या प्राप्त किया है? जब दो चार गृहस्थ मिलते हैं तो जाति, देश, रिवाज, धंधे आदिककी वार्ता किया करते हैं, ऐसे ही हम लोगोंको ज्ञान चर्चा करनी चाहिये, किसका कौनसा मार्ग है, किस हेतुसे मूंड मूंडाकर घूम रहे हैं, सब संसारके वैभवको त्यागकर विचर रहे हैं, घरको छोड़कर हमने विशेष क्या प्राप्त किया, कौनसे निश्चय पर थिर हुये हैं, इत्यादि ज्ञान गोष्ठि करना चाहिये।'

यह सुनकर एक साधु, जिसने इधर उधरसे चीथड़े बीनकर

शीत निवारण करनेके लिये गुदड़ी बनाकर धारणकर रक्खी थी, प्रसन्न होता हुआ बोला "बन्धो, तुमने ठीक विचार किया है, यहां पर अपने २ अनुभवकी ही चर्चा करनी चाहिये, तुम लोग मुझे देखते हो कि मैंने अनेक प्रकारके रंगके चीथड़ोंकी गुदड़ी पहिन रक्खी है, उनमें से कई तो नये हैं, कई पुराने हैं, कई छोटे हैं, कई बड़े हैं, कई रेशमी हैं, कई ऊनी हैं, कई सूती हैं, इन चीथड़ोंको मैंने घूमर कर, जहां जो मिल गया, वहांसे उठा २ कर जमा किया है और उनकी यह कंथा सीकर धारण कर ली है, लोग मुझे इस गुदड़ीके कारण गुदड़िया बावा कहते हैं, मैं इस नामसे ही प्रसन्न हूं, गृहस्थ लोग मेरी इस गुदड़ीके मर्मको नहीं जानते, इस गुदड़ीमें अनेक जवाहरात भरे हुये हैं, इस गुदड़ीकी कीमत मैं ही जानता हूं, दूसरा नहीं जानता, इस गुदड़ीको बना कर धारण करनेमें मुझे वहुत परिश्रम पड़ा है और परिश्रमका फल भी मुझे संपूर्ण मिला है, इस गुदड़ीकी वदौलत मेरे सब दुःखोंकी निवृत्ति होगई है, लोग इसको क्या समझें ? मेरी यह गुदड़ी अमूल्य है, इस गुदड़ीने मुझे श्रीमान् बना दिया है, मेरी गुदड़ी अमौल्य तो है ही, निर्भय भी है; चोर इसकी चोरी नहीं करता ! बंधो, आपतो मेरी गुदड़ीको समझ ही गये होंगे, फिर भी मैं स्पष्ट वर्णन करता हूं, यह मेरी गुदड़ी जगत्रूप है, जगत्में जो अनेक रंग, जाति पांति, नया पुराना, अच्छा बुरा है, उन सबको मैंने चुन लिया है और उनकी एक गुदड़ी बना ली है । जैसे भिन्न चीथड़े होते हुये भी गुदड़ी एक ही है, ऐसे ही जगत् भिन्न होते हुये भी एक ही है, जब

भिन्नताका भाव होता है तब जगत है और जब सबको एक कर दिया जाता है तब सबका आधार—अधिष्ठान रूप एक परब्रह्म ही है। मैं इस गुदड़ीको पहिन कर एक ही भावको प्राप्त हो गया हूं, ऐसा होनेसे जगत्का किसी प्रकारका दुःख रूपी शीत मुझको नहीं सताता, महान् शीतको निवारण करनेवाली चौहट चीथड़ा कंथा कीन्हा, यह मेरी गुदड़ी है, अद्वय, अखंड, सच्चिदानन्द, तत्त्वमसि।"

गूदड़पुराण सुन कर तीनों साधु प्रसन्न हुये, तीनोंमेंसे एक, जो नग्न अवस्थामें उन्मत्तके समान चेष्टा करता था, बोला "अब मेरा वर्णन भी सुन लीजिये, आप लोग जिस हालतमें मुझे देखते हो, उसी हालत में मैं हमेशा रहा करता हूं, कोई वस्त्र धारण नहीं करता हूं, वस्त्र धारण करनेसे ही सब उपाधियां आकर खड़ी हो जाती हैं, पूर्व संयोग से देह रूप उपाधि तो लग ही गई है, अब और उपाधियां क्यों बढ़ाऊं? यह शरीर उपाधि है और मैं उसे उपाधि ही समझता हूं, उपाधिके साथ एकमेक भावको प्राप्त नहीं होता इसलिये पाप पुण्य मुझे कुछ नहीं लगता, मेरा मार्ग ही पाप पुण्य रहित है, जो उपाधिसे मेल करता है, वह महा पापी है, और पापी होकर अनेक प्रकारके पाप पुण्य ग्रहण करता रहता है, मेरा मार्ग कंटक रहित है, मैं एक हूं, अकेला हूं, अद्वैत हूं, शरीर होते हुये भी शरीरधारी नहीं हूं, जब मैं शरीरधारी ही नहीं हूं तो बताओ, पाप पुण्य कौन करे? तुम्हारे साथ मैं वाणी से बोलता हूं तो भी मैं वाणी रहित हूं, सबमें भरा हुआ हूं, सबसे

अलग हूँ, सबका सत्ता स्फूर्तिदाता मैं ही हूँ, फिर पाप पुण्य से मुझे क्या ? संसारसे क्या और परलोकसे भी क्या ? मेरा आना जाना नहीं होता, मुझमें ही सबका आना जाना होता है, आप इस तत्त्वको समझते ही हो, दुनियादार भला क्या समझें ? वे मुझे नंगा बावा पुकारते हैं, बिना समझे हुये भी उनका पुकारना ठीक ही है, असंग, अक्रिय, अविकारीके पास विकार वाले, मायिक, तुच्छ वस्त्र कहां ? इसीसे मैं नंगा हूं और सबका अंतिम बावा हूँ तो मुझे लोग नंगा बाबा कहें तो ठीक ही है, मैं व्यक्ति रूप नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं है, मैं कुछ करता नहीं हूँ, मुझमें कोई विकार नहीं है, मैं आकाशके समान व्यापक हूँ, मैं सब तेजोंका तत्त्व रूप तेज हूँ, सब आनन्द हूँ, यह मेरा निश्चय, यह मेरी स्थिति, यह ही मेरा मोद प्रमोद है, यह ही मेरा आनन्द है, बताइये कोई भूल तो नहीं है ? अहंब्रह्मास्मि !"

नंगा बावाका अनंग प्रकरण सुनकर तीनों साधु वाह ! वाह ! करने लगे। तीसरा साधु ऊपर वाले दोनों साधुओंसे विलक्षण था, आश्रमके चिन्ह धारण किये हुये था, शिर पर जटा थीं, बगल में झोली, कमरमें कौपीन था, हाथमें लंबा चीमटा था, अङ्ग पर भभूति लग रही थी, कहने लगा "मित्रो, मैं तुमको आश्रमके चिन्होंसे अङ्कित शरीर वाला दीखता हूँ, यह आश्रम शरीरका ही है, मेरा नहीं ! जब तक शरीर है तब तक आश्रमका व्यवहार करते रहनेमें मेरी हानिही क्या है ? हे सन्तो, जो तुम हो सो ही मैं हूँ, और मैं हूँ सो ही तुम हो, दूसरे प्रकारसे कहा जाय

तो मैं नहीं, तू नहीं और यह लोक भी नहीं, यह सब विवर्त देखने मात्र है, वस्तुमें कोई विकार नहीं, वस्तुमें परिणाम नहीं, सब स्थानों पर आनंदही आनन्द भरा हुआहै, आनन्दमें आनन्द जाता है, आनन्द में आनन्द बढ़ता है, आनन्दमें आनन्द कम होता है, सब आनन्द का ही तमाशा है, आनन्द ही आनन्द है, मैंने जो भभूति लगा रक्खी है, इसीसे लोग मुझे भभूतिया बाबा कहते है, भभूतिका भाव सुनिये । मैंने अपनी दृष्टिसे सब संसारको भस्म कर डाला है, जगत्के भावाभावको मिटा कर सबको एक करके, सबकी खाक करके, वह खाक ही मैंने धारण कर रक्खी है, खाक सबका अन्तिम स्वरूप है "खाक उढ़ोना, खाक बिछोना, खाकहीमें मिल जाना है ।" खाक ही दूसरेकी अपेक्षासे सत्य है, ऐसे सब खाक ही है, तत्त्व ही सत्य है, इस प्रकार दिखलाने वाली मेरी भभूति है, भभूति नहीं विभूति है, मेरे इस विभूतिके भाव से मुझे जगत् में कोई कष्ट नहीं है, मेरे पास वैराग्य और अभ्यास रूप चिमटा है, मेरी लम्बी जटायें परमात्माका दर्शन कराती है, ऊपरसे निकली हुई जटायें ब्रह्मरंध्रसे बाहर, व्यक्तित्वसे रहित परब्रह्मका निश्चय कराती है; जो तुम्हारा निश्चय है, वह ही मेरा निश्चय है, सत्य दृष्टिसे सब सत्य ही है, चैतन्य है, आनन्द है, परमानन्द है, प्रज्ञानन्द ब्रह्म ! अकार, उकार और मकार प्रज्ञानन्द ब्रह्म ।"

भभूतिया बाबाकी कथा सुन कर सब साधु परमानन्द को प्राप्त हुये । चौथा साधु बोला "जहां अकार, उकार और मकार मिल जांय, वहां अमात्र भिन्न नहीं रहता, सब अमात्र स्वरूप ही

हो जाता है, मैंने कुछ बदला बदली नहीं की है, जैसा हूँ, वैसा ही हूं, न मैं रागी हूँ, न वैरागी हूँ, जो हूँ सो ही हूँ, जो तुम्हारा निश्चय है, वह ही मेरा निश्चय है, मेरा कुछ बिगड़ा है नहीं, तो सुधरेगा क्या ? जब मैं ही मैं हूँ तब किसे जानूं और क्या जानूं ? स्वरूप स्थितिमें पर्वत के समान अडिग हूँ, मुझे शोक किसका हो ? किस कारण शोक किया जाय ? शोक, चिंता, भय, दुःख आदिकको मेरे स्थानमें अवकाश ही नहीं है, वे सब तो अज्ञानकी कल्पनामें डूबे हुओंके लिये है, कैसा आश्चर्य है ! जिसे कभी भी रंचक कष्ट नहीं है ऐसेको कष्ट मानना कितनी मूर्खता है ! मैं परमानन्द स्वरूप हूँ, मैं क्या कहूँ ? क्या बोलूं ? क्या समझाऊं ? शोकका कोई कारण ही नहीं है, मैं तुमको अपना मित्र कहूं या अपना स्वरूप कहूँ ? अयं आत्मा ब्रह्म ! धन्य ! धन्य ! वार्ता समाप्त ! दफतर बन्द ! यज्ञ की पूर्णाहुति । न करना है न कराना है, लगाइये लम्बी लोट । सच्चिदानन्द !"

नारीस्तन भर जघन निवेशं
दृष्ट्वा माया मोहावेशम् ।
एतन्मांस वसादि विकारं
मनसि विचारय वारंवारम् ॥११॥भ०

अर्थः—नारीके स्तनोंका भार जघन (पेडू) की रचना देख कर मिथ्या मोहका आवेश उत्पन्न होता है, वे मांस और चरबी

आदिकके विकार हैं, इस प्रकार मनमें वारम्बार विचार कर, गोविन्द का भजन कर।

नारि पयोधर पीन जघनको।
देखत मोह मृषा हो मनको॥
ये चरबी मांसादि विकारा।
फिर २ मनमें करो विचारा॥११॥भज०

आचार्यजीका उपदेश भगवत् प्राप्तिका अथवा भगवत् प्राप्तिके साधनोंका है। जिस प्रकार भगवत् प्राप्ति हो, उसके निमित्त कथन करते हैं, जगत्‌के सब भोग पदार्थ भगवत् प्राप्तिमें आड़ रूप हैं, जब मनुष्य भोगोंकी तरफ आसक्ति वाला होता है तो वह आसक्ति भगवत् प्राप्तिमें रुकावट करती है, ऐहिक पारलौकिक अनेक प्रकारके पदार्थ हैं, उन सबको क्रम २ से हटाना असम्भव है, इसलिये जिस एक ही पदार्थ में पांचों इन्द्रियों के भोग आ जाते हैं, ऐसे एक पदार्थ के ऊपर विरुद्ध भावना करनेका उपदेश है। ऐसा पदार्थ एक स्त्री है क्योंकि एक स्त्रीमें पांचों ही इन्द्रियोंके भोगकी सिद्धि होती है। जब भोगमें चित्त लुब्ध होता है तब विषय सुन्दर दीखते हैं, पदार्थ सुन्दर दीखे बिना मनकी प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। पदार्थका सुन्दर दीखना चित्तको खींच लेता है, और जब पदार्थ में दोष दीखता है, तो मन वहांसे विरक्त हो कर लौट आता है परन्तु ऐसा लौटा हुआ मन विशेष समय तक स्थिर नहीं रहता, उसी पदार्थमें अथवा अन्यमें

सुन्दरता दीखते ही मन फिर उस तरफ दौड़ जाता है इसलिये मनको विषयसे हटानेके लिये उस विषय के दोषों का बारम्वार चिन्तवन करना चाहिये, ऐसा करनेसे विषयकी सुन्दरतासे होने वाला मोह धीरे धीरे निवृत्त होजाता है। कवियों ने स्त्री की सौन्दर्यताकी अतिशयोक्ति भरी अनेक उपमायें दी हैं, वे मनको फंसाने वाली हैं, उनके बदले क्या भावना करनी चाहिये, यह ऊपरके पद्में आचार्यजीने दिखलाया है, स्त्री के पीन-स्तन और पेडूमें मांस चरबी आदि भरे हुये हैं, वे उन्हींका विकार हैं, ऐसा बारम्बार चिन्तवन करे, ऐसा करनेसे स्त्री सम्बन्धी मोह की निवृत्ति होती है, ऐसा होने पर ही गोविन्द के भजन की सिद्धि होती है।

प्राणियोंका शरीर पृथिवी आदि पंच भूतोंका बना हुआहै। मनुष्य प्राणी भी उन्हींसे बना है। मनुष्य के दो वर्ग किये गये हैं, पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग। स्त्री पांचों विषय से जिस प्रकार पुरुष वर्गको बंधन करने वाली हैं इसी प्रकार स्त्री को पुरुष बंधन कारक हैं। जब पुरुष भजनका अधिकारी होता है, तब स्त्री और स्त्रीके विषय पुरुषको बंधन कारक होते है, जब स्त्री भजनकी अधिकारिणी होती है तब स्त्रीको पुरुष और पुरुषके विषय बंधन कारक होते हैं। ऊपरके पद्में पुरुषको अधिकारी मानकर पुरुष को उपदेश किया हैं। ऐसेही जब स्त्री अधिकारी हो तो पुरुषका रूप और पुरुषका अवयव स्त्रीको मोह उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये स्त्री अधिकारी को भी पुरुषको मांस चरबी आदि का-

विकार ही समझना चाहिये। ऐसा किये विना स्त्री अधिकारी में से पुरुषका मोह निवृत्त नहीं हो सकता। यह उपदेश सब पुरुषों के लिये नहीं है और सब स्त्रियोंके लिये भी नहीं है, किंतु जो अधिकारी है, उन्हींके लिये है, चाहे स्त्री अधिकारी हो, चाहे पुरुष हो उन्हीं के लिये यह उपदेश है। इस उपदेशके अनुसार बर्ताव करने से मोहकी निवृत्ति होती है।

बाल्यावस्थाको जिसने उल्लंघन किया है, ऐसी स्त्री जाति नारी कही जाती है। उसके स्तन, जघन आदि अवयव किसी सुगंधित पदार्थके बने हुये नहीं हैं, जैसे मांस चरबी अपवित्र और दुर्गन्धियुक्त पदार्थों से सबका शरीर बना है ऐसे ही स्त्रीका शरीरभी उन्हीं पदार्थों से बना है, स्त्री पुरुषमें अवयवोंके सिवाय भीतर भरे हुये पदार्थों में कुछ अन्तर नहीं है, जो ऊपर चमड़ी न हो तो यह शरीर किस प्रकार बीभत्स लगे, यह प्रत्यक्ष है। ऐसा होते हुयेभी जिसमें सार नहीं है, सुख नहीं है, ऐसे शरीर में बहिर्दृष्टि विचार रहित पुरुषको आसक्ति होती है इसलिये ऐसा कहा है कि ये अवयव मूढ़ पुरुषोंको मोहके मिथ्या आवेश को उत्पन्न करने वाले हैं। विचार दृष्टिसे ऊपरका कथन ठीक ही है। जैसे गधेकी लीद पर खांड चढादीजाय, और ऊपर से देखनेमें सुन्दर और स्वादिष्ट लगने लगे, और कोई विचार रहित पुरुष उसे खरीद ले ऐसे ही स्त्रीके शरीर का हाल है। उसमें मूल पदार्थ क्या है, यह जाना नहीं जाता परन्तु स्त्री पुरुष के अंग अवयवोंमें रही हुई वस्तु की सबको खबर है, तो भी मोह को

प्राप्त होते हैं, यह कितनी मूर्खता है ! यह मिथ्या मोह अनेक प्रकारकी आपत्तियोंको उत्पन्न करने वाला है । स्त्री प्रत्यक्ष मायाकी प्रतिमा है इसलिये देखनेके साथ ही विद्वान और अविद्वान सब ही विना विचार मोहको प्राप्त होते हैं, अपना और वस्तुका तत्त्व क्या है, इस बातको भूल जाते हैं, उन मलिन अवयवोंको कोई महान् चिंतामणि हो, इस प्रकार समझते हैं, यह माया की प्रबल शक्ति है । अवयवोंकी मोह करने वाली शक्तिके जानने वालेको भी विशेष करके यह मायाशक्ति भुला देती है । सबको अनुभव है कि जब कभी व्रण होता है तब उसमें से दुर्गन्धियुक्त पीब और लोहू बहने लगता है अथवा गीधादि पक्षी जब मरे हुये जानवरको खाते हैं तब उसके शरीरमेंसे दुर्गन्धि ही निकलती है। ऐसा जानते हुये भी मोहमें सब बात भूल जाते हैं। बड़े २ ग्रंथकार और काव्यकर्ताओंने इन दुष्ट अवयवोंको अलंकार देदे कर शृंगार करनेमें कमी नहीं रक्खी है तो भी स्त्रीके मलमूत्र आदिको कोई भी अलंकार नहीं दे सका यदि उनमें भी कोई अलंकार चलता होता तो कवि लोग उनको भी अलंकारसे सुशोभित कर देते ! जिस मूर्खने इस प्रकारके मोहमें ही आयुको समाप्त किया है, उस दुर्भाग्यको क्या कहा जाय ? जब विद्वानोंका ही यह हाल है तो पामरोंका कहना ही क्या है । मायाकी मोहनी शक्ति निवृत्त करनेसे भी जल्दी निवृत्त नहीं हो सकती और व्यवहारमें ऐसा देखना ही अशक्य होता है इसलिये मोहको निवृत्त करनेके लिये यह मांस चरबीका विकार है, ऐसा बारंबार विचार करना चाहिये ।

इस प्रकार बारंबार विचार करनेसे शरीरके ऊपर होने वाला मिथ्या मोह दूर होता है और अपने और स्त्रीके शरीरमें सब पदार्थ अपवित्र भासनेसे सत्य वस्तुके शोधन करनेकी इच्छा होती है। बारम्बार विचार करो, ऐसा कहने का यह अर्थ है कि विचारको समझ कर हृदयमें दृढ़ ठहराने का अभ्यास करो क्यों कि एक समय ही विचार कर छोड़ देनेका यह विषय नहीं है। जब तक ऊपरकी आकृतिका अभाव नहीं और सब शरीर मांसमय ही है, ऐसा लक्ष नहो तबतक अभ्यासको बढ़ातेही रहना चाहिये। जब यह दृढ़ होजाता है तब शरीरके अवयवोंमें कभी मोह नहीं होता; जब अवयव और सुन्दरता ही न दीखे तो मोह किस प्रकार हो। सबमें ईश्वर देखनेकी दृष्टि जिसको हुई है उसके लिये यह साधन नहीं है, जिसका चित्त विषयासक्त है और जो विषयासक्तिसे हटनेकी इच्छा करता है, उसीके लिये यह साधन है। ग्लानि हुये विना, मिथ्या दृष्टि हुये बिना, अथवा दुःख दृष्टि बिना वैराग्य नहीं होता और वैराग्य विना ज्ञान संपादन करना भी बन नहीं सकता, इसलिये मांस चरबी आदिकके बने हुये स्तनादि अवयव विचारना वैराग्यका साधन है। नरकका द्वार नारी है, ऐसा वाक्य कहनेका भी यह ही मतलब है, ऐसे वचनं के मनन और अभ्याससे भी मोहकी निवृत्ति होती है। वाणीका विलास, भृकुटीका घुमाना, स्तन जघनका दृश्य, मोहको उत्पन्न करने वाला है। मोह नरकका द्वार रूप है इसलिये स्त्री मोहको उत्पन्न करने वाली नरकका द्वार रूप है।

मन महा नीच है, क्षण भरमें भुला देता है, छल करता है, चञ्चल और कपटी है, जब मोहके साथ मिलता है तब उसके प्राबल्यका कुछ ठिकाना ही नहीं रहता इसलिये किसी समय भी इसका भरोसा करना न चाहिये। मन बुद्धिको हमेशा नीचे मार्ग में ले जाता है। तूफ़ान का पवन जिस प्रकार जहाज को खड़कके ऊपर चढ़ा देता है अथवा ठोकर लगाकर चूरा कर देता है, इसी प्रकार मन विषय रूप पवनके वेगसे मनुष्यको महा अनर्थमें पटक देता है। विद्वान् और ज्ञानी पुरुष इसी कारण मनका विश्वास नहीं करते। जब २ विषयों की तरफ़ वृत्ति जाय तब तब दोष दर्शन द्वारा अनित्य विचार कर मनमें ठोकरें मारना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो, दृढ़ हो, यह उन्नतिका मार्ग है। किशोर अवस्था बीतने पर ज्यों २ उमर बढ़ती जाती है त्यों २ मन भी दृढ़ और विशेष विषयासक्त बनता जाता है इसलिये प्रथम से ही मनको सच्चे मार्गमें ले जानेका अभ्यास करके भूलमें पटकने के कारणको रोक देना चाहिये। इस मार्गसे ही परम कल्याण सम्पादन हो सक्ता है। सब संसार व्यवहार को छोड़कर जंगल में जाने वाले त्यागी को यह बात जितनी उपयोगी है उतनी ही संसार में रहने वालेको उपयोगी है। ऊपर २ से समझकर ऐसा विचार न करना चाहिये कि इस प्रकार वर्तनेसे वर्णाश्रम धर्मकी हानि होगी किंतु यथार्थ समझकर इस प्रकार वर्तना चाहिये कि जिससे आंतर अथवा बाहर किसीमें भी हानि न होने पावे। संसार का और मनुष्यका अन्तिम सार परब्रह्म ही है इसलिये इसी प्रकार बर्ताव

करना चाहिये, जिससे परब्रह्म में प्रेम बढ़े। जब संसारके विषयों का प्रेम कम होता है तब ईश्वरकी तरफ प्रेम होता है। संसारके सब विषयोंमें स्पर्श विषय महा बलवान् है। स्पर्श विषय में अन्य विषय गौण हैं इसलिये सब विषयों की प्रतिमा स्त्री है। स्त्री के स्तनादिकी प्रीति दुग्धपान ही करावेगी यानी बारम्बार जन्म धारण करना पड़ेगा। बाल्यावस्थामें दूध ही पीना पड़ेगा। जघन के प्रेमसे गर्भवासमें जाना पड़ेगा। जिसको जन्म धारण करनेकी इच्छा न हो उसे अन्य विषयोंके भावके साथ इस भावको अवश्य छोड़ना चाहिये। नियम यह है कि विषयों की तरफ़ भाव होने से उनके प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, ऐसा भाव दृढ़ होकर संस्कार उत्पन्न करता है। संस्कार और भाव एक दूसरे को दृढ़ करते हैं। दोनों ही दृढ़ वासना रूप होकर अदृश्य बनते हैं। अदृश्य बननेसे आगे के लिये जन्म मरण और भोगका तारतम्य चालू रहता है इसलिये दर्शन द्वारा विषयासक्ति को हटाना चाहिये। ऊपर के पद्यमें सब विषयोंमें दोष दृष्टि करके उनके हटानेको कहा है, ऐसा समझना चाहिये। जब विषयोंकी आसक्ति छुटती है और विषयों में मिथ्यात्व दृढ़ होता है तब अन्तःकरण उनसे नहीं खिंचता और सद्विचार में प्रवर्त होता है। जिसे सच्चा मान रक्खा है, वह झूंठा है, जिसे सुख रूप मान रक्खा है, वह दुःख रूप है, शरीर के सब अवयव दुर्गंधि युक्त हैं, सब विषय जहांके तहां रह जाते हैं, मरणके समय कुछ काम नहीं आते, किन्तु विशेष दुःख ही देते हैं, ईश्वर भजनादि सत्कर्म ही काम आते हैं।

जगत्का उत्पत्ति स्थान स्त्री है, स्त्री ही जगत् रूप है, ऐसा कहा जाय तो भी ठीक ही है इसलिये वर्णाश्रम आदिक धर्मों के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक स्त्रीका भावका त्याग ही कल्याण के मार्गमें ले जानेका मुख्य साधन है। जिसने स्त्रीकी कामना छोड़ दी है, उसने सब कुछ छोड़ दिया है और सब कुछ छोड़ते हुये भी जिसकी स्त्री वासना निवृत्त न हुई, उसने वास्तविकमें कुछ भी नहीं छोड़ा। एक स्त्रीकी कामनामें ही सब कामनाओंका समावेश है। इस एक कामना के चले जाने पर अन्य कामनाओं का चला जाना सहज है।

शंकाः—जगत् में जो कुछ सुख है, वह स्त्री में ही है, ऐसे मुख्य जगत् के सुखको छोड़ने से तो जगत् ही मिथ्या होगया—निरस होगया। जब ईश्वर ने स्त्री पैदा की है तब हम उसका त्याग करके क्या अपराधी नहीं होंगे? शास्त्र में ऐसा भी सुना है कि पुत्र रहित मरने वाले की गति नहीं होती। पुत्र होने के साधन रूप स्त्रीका जब त्याग कर दिया तो पुत्र रहित ही रहेंगे; पुत्र रहित की गति नहीं होती तब आपका उपदेश हमको नरक में डालने का ही हुआ!

समाधानः—अज्ञानता के कारण स्त्री, पुत्र, धनादिक में सुख प्रतीत होता है परन्तु उनमें सुख नहीं है, सुख तो परब्रह्म का ही है। स्त्री आदिक में क्षणिक आभास और मिथ्या सुखकी प्रतीति है, ऐसा जाननेसे अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती है। जगत् तो प्रथम से ही मिथ्या है, वह मिथ्या क्या होगा? तुझे जगत् मिथ्या नहीं

दीखता, जगत्को मिथ्या दिखलाने के लिये ही हमारा कथन है। यदि तू पूछे कि परब्रह्म का अखंड सुख कैसा है तो उसे जाननेके लिये तुझे सत् शास्त्रके मार्गसे चलना चाहिये, ऐसा करने से ही तुझे परब्रह्मके स्वरूपका अनुभव होगा। ईश्वर ने केवल स्त्रीको ही नहीं पैदा किया, सबको ही पैदा किया है। जब सब ईश्वर ने ही पैदा किया है तो कुछ तुझे छोड़ना ही न चाहिये। फिर तू मल मूत्रादि बहुतसी वस्तुओंका क्यों त्याग करता है ? त्याग के रहस्य को समझना कठिन है। वास्तविक त्याग आंतर से होता है। आंतरिक त्याग वर्णाश्रम धर्मसे विरोध वाला नहीं है, आसक्ति के भावरहित सामान्य, कर्तव्य रूप कोई भी क्रिया दोष रूप नहीं है। जो कर्ममें ही आसक्त हैं, ऐसे मनुष्यके लिये ही पुत्र रहितकी गति नहीं होती, ऐसा कथन है। जो परम जिज्ञासु अथवा ज्ञानी है, उसके लिये यह कथन नहीं है, स्त्री आदिक से व्यवहार होते हुये भी स्त्रीकी आसक्तिका त्याग-भाव त्याग होसक्ता है परन्तु इस प्रकार त्यागके करनेवाले विरले ही होते हैं। राग और त्याग दोनों ही मार्ग परम्परासे-प्राचीन कालसे चले आये हैं। मार्ग कोई भी हो, यथार्थ होना चाहिये। जो अत्यन्त कर्मासक्त हो तो शास्त्र विधि युक्त कर्म मार्गको ग्रहण करे। शास्त्रका कथन यह नहीं है कि पुत्र ही पिताको स्वर्ग भेज देगा। यदि ऐसा हो तो जब एक पुत्र पैदा करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है तो सुअरियां और कुतिया तो कितने ही पुत्र उत्पन्न करती हैं, उनको भी स्वर्ग की प्राप्ति हो जायगी ! विशेष करके यह उपदेश मुमुक्षुओंके निमित्त है, चाहे वे

किसी आश्रम वाले हों, स्त्रीके मोहमें फंसे हुये ऋषि, मुनि, देव, दानव आदिकका हाल इतिहासोंमें सुना है कि वे स्त्रीके मोहमें फंसनेसे ही भ्रष्ट हुये हैं। इससे भी समझनेवाला समझ सक्ता है कि स्त्रीका मोह दुःखदायक है। स्त्रीके मोहमें पड़े हुयेका एक इतिहास नीचे देते हैं:—

ईडरकी गद्दीका मालिक सामलिया सोड़ एक भील था। वह जवान राजा कुछंदी था। उसके समय गोविन्दराय मुख्य दीवान था। यह दीवान अब वृद्ध होगया था, सामलियाके पिताके समय सेही वह कारभारी था। गोविन्दराय काबिल मुसद्दी कसोटी पर चढ़ा हुआ राजद्वारी था। सामलिया सोड़को राज्यकी व्यवस्था, राजनीति आदि सिखलानेका प्रयत्न किया गया परन्तु वह उन्मत्त व्यसनी और कुछंदी होनेसे कुछ न सीखा। गोविन्दराय सब राज काज करता था। एक समय गोविन्दरायने अपने यहां देवीपूजन-का उत्सव करना आरम्भ किया। मंडप पूर्ण रीतिसे सजाया गया था और सब वर्णोंके, उच्च श्रेणी के मनुष्यों का निमंत्रण किया गया था, सब आने वालों से सभा मंडप शोभित होरहा था। प्रधान के बहुत आग्रह से थोड़े मनुष्यों सहित सामलिया भी वहां आया। जब गोविन्दरायको राजा के आने की खबर मिली तो वह बाहर आकर सन्मान सहित राजा को मंडपमें ले आया और एक बहुमूल्य आसन पर बैठाया। सामलियाका चित्त सभा और मंडपमें नहीं था, वह किसी विचार में डूबा हुआ था। गोविन्दराय समझ गया, परन्तु किस विचारमें है, यह कुछ उसकी

समझमें न आया। बात ऐसी थी कि जब सामलिया वहां आया था, तब मकानके झरोखेमें एक कन्या पर उसकी दृष्टि पड़ी थी। उस कन्याका मुख भराऊ, गोल, तेजस्वी था। साथियोंके पूछनें से सामलियाको मालूम होगया कि यह बाला गोविन्दराय की सबसे छोटी पुत्री है, अभी उसका विवाह नहीं हुआ। सामलिया का चित्त इस विचारमें पड़नेसे सभा मण्डपमें नहीं था। थोड़ी देर में हवन पूर्ण हुआ, सब लोग दर्शन करनेके लिये हवन कुंडके समीप आगये। वस्त्राभूषणसे सजी हुई वह बाला भी वहां आई। सामलिया ने उस समय भी उसको देखा। युवावस्थाके आरम्भमें आई हुई सरदारबा (उस लड़कीका नाम था) अप्सराके समान शोभती थी। उत्सव पूर्ण होने तक सामलिया मुश्किल से बैठा रहा, फिर राजमहलमें चला गया।

रात्रि के समय उत्सव क्रियासे निश्चिन्त होकर जब सब सो रहे थे तब गोविन्दरायके घर पर सामलिया के भेजे हुये चार घोड़े सवार आये। गोविन्दरायके नौकरोंने सवारोंका सामना किया औ मनुष्योंको मारकर सवार ऊपर चढ़ कर सरदारबा को ले कर राजमहलकी तरफ चल दिये। नौकरोंने जाकर गोविन्दराय-को यह अशुभ समाचार सुनाया। वृद्ध गोविन्दराय शांति रखते हुये दो विश्वासु दृढ़ मनुष्योंको अपने साथ लेकर राजमहल की तरफ चला। गोविन्दराय से सब डरते थे इसलिये राजमंदिर में दाखिल होनेमें कोई आपत्ति न हुई। सामलियाके एक मनुष्यने जाकर सामलिया को खबर दी कि गोविन्दराय आये हैं। साम-

लिया सामने गया तो गोविन्दरायने नमन किया। सामलिया बोला "प्रधानजी, इस समय पर आप क्यों आये हो ? मैं तुम्हारे आनेके कारणको जानता हूँ, तुम्हें इस कार्यमें सफलता न होगी ! जो कहोगे सब मिथ्या होगा, क्योंकि मैं राजा हूँ, या तो प्रकट रीति से सरदारबा के साथ मेरा विवाह करने को स्वीकार करो, नहीं तो चुप चाप चले जाओ।" गोविंदराय विचार कर धीरजसे बोला "नव लाखकी गद्दीके मालिक ! तेरी मांगनीको मिथ्या करने वाला कोई राजा गुजरातमें नहीं है; तो मैं तेरा नोकर तेरी बात क्यों न मानूंगा ? ऐसा फितूर शोभा नहीं देता, तेरी इच्छाके अनुसार मैं आनन्द पूर्वक सब सामग्री तैयार करके सरदारबा की तेरे साथ शादी करने को तैयार हूँ !" सामलिया हृदय में फूल गया और कहने लगा "अच्छा। तब सरदारबा को ले जाइये, चाहो जितना रुपया खजानेसे लेकर जल्दीसे शादी कर दीजिये !" गोविंदराय सब बात कबूल करके सरदारबाको लेकर घर पर लौट आया।

कुछ रोज बाद गोविन्दराय एक बारोट को लेकर सोमेत्रा ग्राममें गया। यह ग्राम एक कसबे के समान आबाद था और वहांका स्वतंत्र राजपूत राजा सोनिंग राठोर था। गोविन्दराय ने उससे मिलकर सामलिया का सब हाल कहा और मदद मांगी। सोनिंग राठोर मदद देने को राजी होगया। गोविंदराय घर पर लौट आया और शादी की विधिवत् सब तैयारी करने लगा। ग्राम के सब लोग और जाति वाले आश्चर्यमें पड़े थे परन्तु यह

पता किसी को नहीं था, कि शादी किस प्रकार होने वाली है। शादीके दिन सोनिंग राठोरके कई राजपूत बाहरसे मुलाकातियोंके वेषमें आये और गोविंदराय के मकान पर ठहरे। सोनिंग राठोर भी वेष-बदलकर आया हुआ था, समय पर सामलिया दूल्हा बन-कर गोविंदराय के मकान पर ब्याहने को आया। जब वह भीतर घुस आया तब मनुष्यों ने किवाड़ बन्द कर दिये और राजपूतों ने सामलिया के साथ में आये हुये मनुष्यों को मार डाला। सोनिंग राठोर ने सामलिया का घात किया, बाहर हल्ला मच गया, भील लोग एकत्र होकर चढ़ आये परन्तु राजपूतों ने सबको मार हटाया और ईडर सोनिंग राठोर के तावे में हो गया।

मोहासक्तिके परिणामसे सामलियाका राज और प्राण दोनों गये। एक समयकी दृष्टिने कितना अनर्थ किया। ऐसे मोहकी दृष्टि यदि अनेक बार हो तो कितना अनर्थ करती होगी। अनर्थ प्रकट मालूम नहीं पड़ता परन्तु संस्कार अवश्य पड़ते हैं और समय पाकर दुःखका भोग अवश्य कराते हैं, इसलिये मोह के आवेशको पैदा करने वाले भावके सामने विरुद्ध भावना—तिरस्कार बराबर करने को और गोविन्दका भजन करने को, आचार्यजी का उपदेश है और कौरवोंका नाश, रावणका नाश आदिक मोहावेश के दृष्टान्त भी यह ही सूचित करते हैं। मोहावेशसे बचनेका पूर्ण प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

गेयं गीता नाम सहस्रं ।
ध्येयं श्रीपति रूपमजस्रम् ॥
नेयं सज्जन निकटे चित्तं ।
देयं दीन जनाय च वित्तम् ॥१२॥ भ०

अर्थः—गीता और विष्णुसहस्रनामको गाना चाहिये, विष्णुका सदा ध्यान करना चाहिये, सज्जनके पास चित्तको ले जाना चाहिये और दीनजनों को दान देना चाहिये। गोविन्द का भजन कर।

गीता सहस नाम जपि गाओ ।
श्रीपतिका नित ध्यान लगाओ ॥
संत निकट चितको ले जाओ ।
दीनजनोंमें द्रव्य लुटाओ ॥ १२ ॥ भज०

विशेषता से होनेवाले जगत्‌के व्यवहार को देखकर खेद ही होता है। मनुष्यको प्राप्त हुये शरीर, इन्द्रिय और मनका सच्चा उपयोग होता हुआ बहुत कम देखनेमें आता है। प्रपंचके भावमें अन्धेरा छा रहा है; मनुष्य शरीर और इन्द्रियोंका सदुपयोग नहीं करते। जिनको इस बातका कुछ भी विचार है, उन पुरुषों के लिये आचार्यका उपदेश है। ऊपरके पदमें चार बातें बताई हैं:—गाना, ध्यान करना, चित्तको सज्जनके पास ले जाना और दान देना। दानरूप-कर्म विशेष करके स्थूल इन्द्रियों का है, गाना

और चित्तको सज्जन के पास ले जाना सूक्ष्म-कर्म है और ध्यान करना सबसे सूक्ष्म है। इस बताये भावके अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक सदुपयोगको समझना चाहिये।

कोई तो अनेक प्रकारके अलंकार-नायिकाओंके भेदकी कवि-ताओंको गाते हुये दिखाई देते हैं, कोई स्त्रियोंका वर्णन करते हुये देखनेमें आते हैं, कोई स्त्री पुरुषोंका विलास कथन करते हुये दीखते हैं, कोई वीभत्स शब्दोंका उच्चारण करते हुये, कोई विषय-भोगका व्याख्यान करते हुये, कोई विषयोद्दीपक अलाप करते हुये और कोई तो दूसरेको कष्ट पहुँचे, अनर्थ बढ़े ऐसी वाणीका बक-वाद करते हुये देखने में आते हैं। इसके सिवाय अनेक प्रकार से वाणीका दुरुपयोग करते हुये दूसरे की निन्दा करने से वाणी को दूषित करते हैं, यह ठीक नहीं है। मनुष्यके समान अन्य पशुओं की वाणी नहीं है। जब ईश्वर ने मनुष्यों को युक्त बुद्धि दी है तो अपने अंतर्यामी परब्रह्म को पहिचानने के साधनों में वाणीका उपयोग करना ही वाणीका सदुपयोग है। जिनमें ईश्वरका भजन पूजन ध्यान और ज्ञान है. ऐसी पुस्तकोंको पढ़ना चाहिये, उनको ही गाना चाहिये। ऐसे ग्रन्थ अनेक हैं परन्तु सूक्ष्मता से दिख-लानेके निमित्त श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम पढ़ने को कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता सब शास्त्रों, वेदों और पुराणों का सारांश रूप और सूक्ष्म है, इतना छोटा और सर्वमान्य ग्रन्थ अन्य नहीं है। इसी प्रकार विष्णुसहस्रनाम, जिसमें विष्णु के सहस्र नामोंका वर्णन है, प्रत्येक नामके अर्थमें सब तत्त्व रहस्य भरा

हुआ है, उसे गाना—पढ़ना चाहिये। ऐसा करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। लौकिक विषय वाले ग्रन्थ सुन्दर राग वाले हों, कंठसे मधुरताके साथ निकलते हों, कर्णको प्रिय हों तो भी उनमें ईश्वर संबंधी कुछ भी उच्चार न होनेसे, ऐसे सुन्दर गायन का कुछ भी उपयोग नहीं है, उनसे तो वाजिंत्र से निकलने वाला धुनात्मक स्वर ही अच्छा है, क्योंकि उससे बंधन करने वाला शब्द तो सुननेमें नहीं आता।

अनादिकाल के अभ्यास से लोगोंका विशेष प्रेम विषयों की तरफ है। ऐसे लोगोंके बनाये हुये श्लोक और काव्य उस प्रेमकी ही वृद्धि करते हैं। संसार बंधनरूप है, यह बंधन किस प्रकार निवृत्त होता है, ऐसा कोई भाव उन श्लोकों में न होनेसे वे व्यर्थ हैं। विषयोंके गीतोंकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे तो बिना गीत ही चौवीसों घंटे गाये ही जाते हैं, तब जो कुछ गाया जाय, वह प्रपंचकी निवृत्तिका हेतु होना चाहिये। शुभाचरण, उपासना अथवा ज्ञानके ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। उनके पढ़ने से संसार बंधनकी निवृत्ति होना संभव है। व्यवहार में बोले बिना रहा नहीं जाता, इसलिये जब बोलनेकी आवश्यकता हो, तब शुद्ध व्यवहारके लिये ही बोलना चाहिये, इससे विपरीत बोलना कष्ट-दायक है। अहंकार छल और कपट के आधीन होकर दुष्ट इच्छा सहित बोलना ठीक नहीं है। जिसमें काम्यपनेका अंश हो, ऐसे बोलनेका भी कुछ उपयोग नहीं है, उससे कल्याण नहीं होता। हनूमानजीको जब मोतीकी माला दी गई तो उन्होंने एक २

दानेको दांतों से तोड़ फोड़कर फैंक दिया। जब ऐसा करने का कारण पूछा गया तो उत्तर मिला कि मैं राम नामको देखता हूँ दानों में कहीं भी राम नाम नहीं है, जिसमें राम नाम नहीं, वह किस कामका ? सज्जनोंको वाणीके व्यापारमें इसी प्रकारको बुद्धि धारण करनी चाहिये। कल्याण करनेवाले ग्रन्थों में भगवद्गीता मुख्य है क्योंकि उसमें सब रहस्यका निचोड़ है। इसको कंठ करना अथवा स्पष्ट उच्चारण सहित उसका पाठ करना चाहिये और पाठ भी अर्थ समझकर करना चाहिये। गीता, त्यागी और रागी, गृहस्थ और संन्यासी सबके लिये उपयोगी है। उसके प्रतिदिन के अभ्याससे जगत् और जगत्के विषयोंकी तरफ अरुचि होती है। केवल कर्तव्य बुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःकरण शुद्ध होनेसे स्वरूपकी पहिचान होती है, युवावस्था और दुष्ट संगसे भ्रांत हुये मनुष्य इस बातको नहीं समझते और कभी समझ जांय तो भी आचरण नहीं करते। बुरा मालूम हो तो भी औषधिरूप इस कथनके ग्रहण करनेवालेको अन्तमें अविचल सुख-शांतिकी प्राप्ति होती है।

मनुष्य शरीरकी प्राप्ति महान् पुण्यका फल है, क्योंकि मनुष्य शरीरमें ही ईश्वरका ध्यान करनेकी शक्ति होती है। यदि शक्ति प्राप्त होने पर भी ईश्वरका ध्यान न किया जाय तो शक्ति व्यर्थ चली जाती है, इसलिये सज्जन पुरुषको उस शक्तिका यथार्थ उपयोग करना चाहिये। युवावस्थामें लोग अवस्थाके अनुकूल पदार्थों का ध्यान करते हैं और वृद्धावस्थामें अनेक प्रकारकी चिन्ताओं-

का ध्यान परवश हो कर करना पड़ता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच विषय शरीरको सुख देनेवाले हैं, ऐसा माना जाता है। इन विषयोंमें संसारके सब पदार्थ आ जाते हैं। उन्हीं पदार्थोंकी प्राप्ति, रक्षा, उन्हीं सम्बन्धी विचार और स्मरणरूप रात दिन उन्हींका ध्यान हुआ करता है। परन्तु ईश्वर-की सर्वोत्तम कारीगरी रूप, अमूल्य होते हुये भी क्षणभंगुर देह किस निमित्त प्राप्त हुआ है और क्या करनेसे उस देहका मिलना सार्थक होगा, इसका विचार नहीं होता। जो इन्द्रियोंके सुखको ही सुख मानते हैं, उन्हें इतना भी विचार नहीं होता कि हम जिसे सुख मानते हैं, वह वस्तुतः सुख है भी या नहीं, जब सुख है तो चला क्यों जाता है,सुखके आगे पीछे और मध्यमें दुःख क्यों रहता है। इसलिये यह वस्तुतः सुख नहीं है, सुखाभास-मिथ्याभास है, कल्पना सिवाय कोई भी पदार्थ सुखरूप नहीं है, थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि कुछ सुख है अवश्य,तो भी आता रहता है, चला भी जाता है, प्रयत्नसे आता है और प्रयत्न विना भी आता है, स्वभावसे ही आने जाने वाला है, ऐसेके साथ चित्त वृत्ति जोड़नेसे दुःख ही होता है। जो जिसका भोग है, प्रयत्न विना ही प्राप्त होता है, क्योंकि भोग पूर्वके प्रयत्न का फल है। इसलिये उसके निमित्तका प्रयत्न मिथ्या है, सच्चे सुखके लिये प्रयत्न करना चाहिये, सच्चा सुख प्रयत्न विना नहीं मिलता, परन्तु जिनका चित्त विषयभोगकी लालसामें डूबा हुआ है, ऐसे मूढ़ मनुष्योंको अवकाश ही कहां है, जो सच्चे सुखके

लिये ध्यान और प्रयत्न करें। विषय सुख तो पशु आदि देहोंमें भी प्राप्त होता है तो उसके लिये प्रयत्न करके मनुष्य शरीरको खो देना पशुपना ही है! पानी नीचेकी तरफ सहजमें चला जाता है;पानीका ऊपर चढ़ाना कठिन है,प्रयत्न विना नहीं चढ़ता। इसी प्रकार विषय सुख नीचेकी तरफ है, उसमें चित्त वृत्ति स्वाभाविक चली जाती है, ईश्वरका ध्यान उचानमें और जगतके जालको छुड़ानेवाला है, पूर्वका अभ्यास न होनेसे उसके लिये अवश्य प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिये लक्ष्मीपति-मायापतिका ध्यान सब विषयोंको छोड कर करना चाहिये। जो जगत्के ऐश्वर्य-रूप लक्ष्मीकी चाहना करता है,चाहे प्राप्त हो चाहे न हो, उसीका गुलाम बना रहता है, वह लक्ष्मीपतिसे दूर ही रहता है।

जगत्में जितनी शोभा है, जितनी कांति है, जितना ऐश्वर्य है, वह सब जिसकी सत्तासे स्फुरित होता है, वह लक्ष्मीपति है, लक्ष्मी लक्ष्मीपतिसे भिन्न नहीं है। जब तुम लक्ष्मीको चाहोगे तो पति रहित लक्ष्मी कैसे प्राप्त होगी ? इसीलिये लक्ष्मी चाहने वालों-को अनेक कष्ट होते हैं और जब तुम लक्ष्मीपतिको ही चाहोगे तो लक्ष्मीकी परवा न करने पर भी भाग्यवश लक्ष्मी अवश्य प्राप्त होगी, रुक नहीं सक्ती,लक्ष्मीपति रहित लक्ष्मी निर्जीव है। लक्ष्मी-पतिकी प्राप्तिसे तुमको लक्ष्मीकी परवा नहीं रहेगी और यदि वह उसी समय तुम्हारे चरण प्रक्षालन करनेको आजाय तो आश्चर्य नहीं है। यदि तुम पूछो कि लक्ष्मीपति कहां रहता है तो उसका उत्तर सुनो; वह तुमसे दूर नहीं है,वह सबका अन्तरात्मा होकर प्रत्येकके

अन्तःकरणमें विराजमान है। उसके स्वरूपका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके उसको जानना चाहिये, उसीका पूर्ण निश्चय करना चाहिये, ध्यान भी उसीके निमित्त किया जाता है। यदि निर्गुण निराकारका ध्यान करनेकी योग्यता न हो तो साकारका ध्यान करना चाहिये और ध्यान करते हुये प्रपंचके ध्यानको छोड़ना चाहिये। विषय आदि प्रपंचका ध्यान करना तो अंतःकरण रूप सुवर्णपात्रमें मलमूत्रके भरनेके समान है, ऐसा करना उचित नहीं है, अंतःकरणसे ही विशेष चैतन्यता है। निर्मलताके कारण अंतःकरणको स्फटिक मणिकी उपमा दी जाती है। निर्मल अंतःकरणमें निर्मल ईश्वरका ध्यान ही शोभता है,निरन्तर ध्यान करनेसे जन्म-मरणका कष्ट भोगना नहीं पड़ता, ध्यान करने योग्य तत्त्वका नाम ध्येय है। परब्रह्मके सिवाय अन्य कोई ध्यान करने योग्य ध्येय नहीं है। परब्रह्मके सिवाय अन्यका ध्यान ध्यान नहीं है और परब्रह्ममें रहा हुआ प्रापंचिक ध्येय ध्येय नहीं है, अन्यके ध्यानका परिश्रम व्यर्थ है, इतना ही नहीं, अनेक प्रकारके कष्टोंके समूह को खींच ले आने वाला है, जिसका सद्भाग्य होता है, उसे छोटेपनेसे ही ईश्वरका ध्यान होता है।

हिरण्यकशिपु नामका एक महा बलवान् दैत्य विख्यात राजा था, उसके चार पुत्र थे, उनमें सबसे छोटेका नाम प्रह्लाद था, प्रह्लाद बाल्यावस्थासे ही विष्णुका परम भक्त था, उसे रात दिन विष्णुका ध्यान रहता था, पिताने उसे विद्याभ्यास करनेको गुरुके पास भेजा। पिताकी आज्ञासे कुछ दिन तक प्रह्लाद विद्याभ्यास

करने जाता रहा, एक दिन पिताने कहा पुत्र, तू क्या पढ़ा है? जो तुझे अच्छा लगता हो, सो मेरे सामने कह। प्रह्लाद बोला, हे पिताजी! यह घर अंधे कुएंके समान है, मरु जलको जैसे हरिण सच्चा मान कर कष्ट पाता है ऐसे ही मिथ्या जगत्को सत्य मान कर उद्वेगवाले अज्ञानी मनुष्य अन्धे कूपमें पड़ते हैं, अंधे कूपरूप घरकी आसक्ति छोड़कर भगवान्का आश्रय करना ही उत्तम है, मुझे इसी पर प्रेम है। हिरण्यकशिपु पुत्र प्रेमसे हास्य कर बोला "पुत्र! यह तेरा कहना ठीक नहीं है!" फिर गुरुको बुला कर कहा "प्रह्लादको कोई विष्णु भक्ति का उपदेश देता है, ऐसा मालूम होता है, कोई उसे ऐसा उपदेश देने न पावे, आप इस बातका प्रबन्ध करें।" गुरुने प्रह्लादको एकांतमें बुला कर कहा "हे वत्स! मैं तुझे मारूंगा नहीं, सच बोल, विष्णु भक्ति रूप विपरीत बुद्धि तुझे किस लड़केसे प्राप्त हुई है?" प्रह्लादने कहा "गुरुजी! मुझे किसी लड़केसे प्राप्त नहीं हुई है, जिसकी मायासे हमारा और दूसरे पुरुषोंका मैं और मेरा ऐसा मिथ्याभाव हुआ है, उस विष्णु भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ, जिसकी माया ब्रह्मादि महात्माओं-को भी मोहको प्राप्त कराती है, उस विष्णु भगवान्ने ही मेरी बुद्धि इस प्रकारकी कर दी है।" प्रह्लादके ऐसे वचन सुन कर गुरु कोपायमान हो कर तिरस्कार करता हुआ बोला "बालको, बत लाओ, दुष्ट बुद्धि प्रह्लादको मार मारनेके सिवाय दूसरा उपाय नहीं है, वह मेरे कहे अनुसार नहीं वर्तता। कुशिष्यको पढ़ानेसे यश कहांसे प्राप्त हो? यह अपकीर्ति करानेवाला है! चन्दन वनमें

बबूलके समान दैत्य कुलमें यह (प्रह्लाद) उत्पन्न हुआ कुपुत्र है।"

इस प्रकार तिरस्कार करके गुरुने प्रह्लादको भय दिखलाया परन्तु उसने कुछ भी न सुना, वह तो परमात्मामें ही लीन रहा ! फिर गुरुने फुसलाते हुये प्रह्लादको धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग का उपदेश देना आरंभ किया। कुछ काल तक ऐसा ही करता रहा और एक दिन अच्छे २ वस्त्र पहिना कर गुरु उसे हिरण्यकशिपु के पास ले गया। प्रहलादने पिता को साष्टांग दंडवत् किया। पिताने पुत्र को गोद में ले कर पुचकार कर कहा "हे प्रिय पुत्र, जो कुछ तूने पढ़ा हो और जो तुझे याद हो, सो बोल।" प्रह्लाद बोला "विष्णु-चरित्रका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, विष्णु-चरणकी सेवा, पूजा, वंदन, दास-भाव, सखा-भाव और आत्म-निवेदन इस प्रकार मनुष्योंको विष्णुकी नवधाभक्तिकरनी चाहिये और जो साक्षात् विष्णुको अर्पण होता है, उसको मैं उत्तम अध्ययन मानता हूं।" इस प्रकार विष्णुकी भक्ति युक्त वचनोंको सुन कर दैत्यराज कोपायमान हो गया- आंखें लाल हो गईं, होठ फड़कने लगे, चिल्ला कर गुरुसे कहने लगा "हे नीच ब्राह्मण ! क्या तूने मेरे शत्रु विष्णुका आश्रय करके मेरे पुत्रको अयोग्य ऐसी विष्णुकी भक्ति सिखाई है ?" दैत्यराजके ऐसे वचन सुनकर अध्यापक थर थर कांपने लगा, और बोला "हे राजन् ! तुम्हारा पुत्र जो बोलता है, वह मेरा पढ़ाया हुआ नहीं है, ऐसे ही अन्य किसीका पढ़ाया हुआ भी नहीं है, स्वाभाविक ही इसकी ऐसी बुद्धि है। मुझ पर क्रोध

न कीजिये।" तब हिरण्यकशिपुने प्रह्लादकी तरफ देख कर कहा, "हे दुष्ट, यह तूने किससे पढ़ा है ?" प्रह्लाद बोला "हे पिताजी, भगवत् की कृपासे विष्णु भगवान्में प्रीति होती है, अथवा सत्संगमे होती है, अपने आप या दूसरे किसीसे नहीं होती।" ऐसा सुनते ही दैत्य राजाने पुत्रको गोदमें से फेंक दिया, और क्रोधित हो कर नौकरोंसे कहा "इस दुष्टको जल्दीसे मार डालो, विलम्ब मत करो।" सेवक विचारने लगे "यह राजकुँवर है, हमसे कैसे मारा जाय ?" एक दैत्य बोला "महाराज ! यह आपका पुत्र है, हम उसे कैसे मारें ?" हिरण्यकशिपु बोला "पुत्र भले हो, अपनी अंगुलीमें जब सर्प काट खाता है तो अंगुलीको काट देना ही अच्छा होता है, नहीं तो विष सारे शरीरमें फैल जाता है, मैं आज्ञा करता हूं, कुछ भी विचार किये विना किसी भी उपायसे तुम इस दुष्टको को मार डालो।" ऐसा सुन कर दुष्ट राक्षस त्रिसूल आदि हथियार लेकर "छेदो, भेदो, मारो, ताड़ो" इस प्रकार चिल्लाते हुये प्रह्लादकी तरफ दौड़े। प्रह्लाद किंचित् भी चलायमान न हुआ, परमात्मामें निश्चल मन लगाये हुये निर्विकार और निर्भय बैठा रहा। दैत्योंने बहुतसे प्रहार किये; परन्तु प्रहलादको उनसे कुछ भी दुःख न हुआ ! जब प्रहार निष्फल हो गये तब, विषधर सर्पोंसे कटवाया गया, उनसे भी कुछ कार्य सिद्ध न हुआ ! तब मारण आदि प्रयोग किये गये, उनसे भी कुछ न हुआ ! पश्चात हिरण्यकशिपुने अनेक कष्ट दिये, परन्तु प्रह्लाद परम तत्त्वके अनुसंधानसे किंचित भी न डिगा ! ध्यान इसी प्रकारका होता है। यथार्थ ध्यान यह ही है

अंतमें विष्णु भगवान्‌ने नरसिंह रूपसे प्रगट होकर हिरण्यकशिपु का वध किया।

यदि चित्तको ले जाना हो तो कहां ले जाय ? इसके उत्तरमें कहा है कि सज्जन पुरुषोंके निकट चित्तको ले जाना चाहिये। चित्त अत्यन्त चंचल है, चित्तकी चंचलताके कारण चित्तको किसीकी उपमा नहीं दे सके। चंचलतासे ही चित्त अनादिकाल से बंधनको प्राप्त होता आया है। तोता जैसे अपनी जिह्वा—मधुर उच्चारणके कारण बंधनको प्राप्त होता है, ऐसे ही चित्त अपनी चंचलतासे बंधनको प्राप्त होता है। एक क्षणमें हजारों प्रकारके भिन्न भिन्न विचार कर डालता है। स्वर्ग मृत्यु अथवा पाताल लोकको इस शरीरमें रह कर देखा नहीं है तो भी सुनी हुई बातसे क्षणसे भी न्यूनकालमें सब स्थानों पर घूम आता है। मन को यूरुप, अफ्रिका, अमेरिका आदिमें जाने-आनेमें देरी नहीं लगती और स्वप्नमें तो थोड़ी देरमें ही अनेक जन्मोंके सुख दुःखका भोग भोग कर जाग्रतावस्थामें आ जाता है। जिस प्रकार मनमें चंचलता है, इसी प्रकार अस्थिरता भी है। किसी विषयमें स्थिर न रह कर भटकता ही रहता है। दीपककी ज्योति जैसे बिना हिले नहीं रहती ऐसे ही मन चंचलता बिना नहीं रहता। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयोंमें ही चित्त भटका करता है, क्योंकि वे उसे प्रिय लगते हैं, परन्तु स्थिर हो कर वहां भी नहीं टिकता! वास्तविक विचारसे देखा जाय तो पदार्थोंमें सुख है नहीं। जैसे कुत्ता हड्डी चबा कर अपने ही मुखका रक्त चाट कर हड्डीमें सुख मानता

है ऐसे ही मन अंतःकरणके धर्म पदार्थोंमें मान कर सुखी होता है। आहा! मायाकी कैसी महिमा है! जो पदार्थ-विषय महा दुःख देनेवाले हैं और उपाधिरूप हैं, उनमें सुख मान कर चित्त लगाया जाता है; परन्तु जिस करके चित्तमें चैतन्यता है, जिस करके सुखादिक धर्मोंकी प्रतीति होती है, उसमें चित्तको नहीं लगाते। इसी कारण अन्तर्यामी जन्म-मरणके बंदीखानेमें पड़ कर आधि, व्याधि और उपाधिका दण्ड भुगतता है, इसलिये प्राप्त हुई बुद्धिका सदुपयोग करके दुःखसे छूटने के निमित्त सज्जनोंके पास चित्तको ले जाना चाहिये, क्योंकि सज्जनोंका समागम सब बंधनोंको काटकर व्यवहार और परमार्थ दोनों सुधारता है। कल्प-वृक्ष जिस प्रकार सब मनोरथोंको पूर्ण करता है, इसी प्रकार सज्जनों-का समागम भी सब मनोरथोंको पूर्ण करने वाला है। सज्जनों में चित्तका लगाना दो प्रकारसे होता है। एक तो निकटमें रह कर और दूसरे दूर रह कर। जैसा संग होता है, वैसा रंग चढ़ता है यह नियम है। सज्जनोंके संगसे सज्जनता आती है, सत्पुरुषोंका उपदेश श्रवण करनेसे अथवा उनकी सेवा शुश्रूषा करनेसे भी चित्त-का सम्बन्ध संत और संतके विषयसे होता है। जब सज्जन पास न हो, तब भी उनका ध्यान करने, उनकी बातोंका बारम्बार विचार करने और उपदेशको धारण करनेसे भी सज्जनके साथ चित्तका संग होता है। ऐसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपसे सज्जनोंसे चित्तका मिलान होता है, परंतु ऐसे सज्जन लोकमें कोई एकाध ही होते हैं, जिसका शुभाचरण, निष्ठा और विचार उपदेशरूप हो।

जगत् में दो प्रकारकी दीनता है, एक पारमार्थिक और दूसरी व्यवहारिक, जैसे जीवन्मुक्त महात्मा सिवाय पारमार्थिक में सब दीन हैं, ऐसे ही व्यवहारिक दीनतामें उस महात्मा को छोड़कर सब दीन हैं। श्रीमान् हो, कीर्तिमान हो, शारीरिक और मानसिक बलवाला हो, सब कुछ हो तो भी यदि अज्ञानी है तो वह व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों ही में दीन है, ऊपरके पादमें दोनों प्रकार की दीनता को समझना चाहिये, जिस प्रकार की जिसकी दीनता हो, उस प्रकार की उसकी दीनता जिससे निवृत्त हो, उसके लिये वह वित्त है। इस प्रकार सब ही मनुष्य और प्राणी दीन हैं, उनमें बहुत से तो ऐसे हैं कि जो दीन होने पर भी अपने को दीन नहीं मानते। दीनता गरीबी को कहते हैं; दीनहो और अपने को दीन समझे, यह शुभ लक्षण है। इससे दीनता निवृत्त करनेके उपायमें प्रवृत्त होता है। आत्म-लाभमें दीनता अवश्य उपयोगी है, गरीबीमें ईश्वर का स्मरण होना विशेष संभव है तो भी जगत् में देखते हैं तो ऐसा नहीं दीखता, दुखी चित्त दुःख के विषयोंका विस्मरण ही नहीं करता, दुःखसे अन्धे हुये चित्त को ईश्वर भजन सूझता ही नहीं। जिसको यथार्थ दुःख सूझ जाय और वह सच्चे प्रयत्नमें लगे तो उसका अवश्य हित होता है, स्थूल और सूक्ष्म जितना जो कुछ जगत्में देनेका है, जिसके बिना जो दीन हो उसको वह देना वित्त कहा जाता है, ऐसे दीन लोगोंको अपने सामर्थ्य और अधिकारके अनुसार जो देना है, वह दीनोंको दान देना कहलाता है, धन एक प्रकारका नहीं, पशु,

लक्ष्मी, धान्य, पृथ्वी, पुत्री, मित्रता आदि सब ही धन गिने जाते हैं, सारांश यह है कि अपने पास जिस प्रकार का धन हो, उसको उसके अधिकारी को देना चाहिये, भूखेको अन्न, प्यासेको पानी, तप्तको शीतलता, शीतवालेको वस्त्र और शरीर से अथवा मनस जिसको जो आश्रय चाहिये वह देना दान है। इनमें भी द्रव्यकी विशेषता है क्योंकि द्रव्य करके सब वस्तुयें प्राप्त हो सकी हैं, शरीरधारी मनुष्यके कर्तव्यको न समझने वाले पामर मनुष्य यदि किसी को दीन देखें तो समृद्धिवान् होने पर भी उसे कुछ नहीं देते, उलटे दुःख देनेमें ही तत्पर होते हैं। निंदा करना, हास्य करना, चोरी करना, मारना और सब बातोंमें दोष दृष्टि करना इत्यादि ही करते हैं, इस प्रकार धनके बदले कष्ट ही देते हैं, धनके मद में छके हुये यहां चाहे जितने उन्मत्त हों, परन्तु वह उन्मत्तता ईश्वरके पासतो उनको सजाका पात्रही बनावेगी यदि दीन अपात्र मालूम हो तो भी उसे कष्ट देना उचित नहीं है, दान देना उचित न समझे तो उदासीन रहे।

'जैसा बोता है वैसा ही काटता है' यह जगत् प्रसिद्ध न्याय है। दीनरूप क्षेत्र में उत्तम भावयुक्त उत्तम बीज बोने से उत्तम ही फल होता है। किसी प्रकार की समृद्धि से युक्त हो कर उसकी दीनता वालेको यदि पात्र हो तो उसे अवश्य देना चाहिये। क्योंकि वह समृद्धि रहनवाली नहीं है, जितनी उसमेंसे बोई जायगी उतनी ही बच रहेगी, नहीं तो नाश तो अवश्य ही होगी, ऐसी परोपकार दृष्टिसे उदार होना चाहिये। न देने से जितना घटता है।

उतना देनेसे नहीं घटता। सबस विशेष दान ब्रह्म-विद्याका है, यदि अधिकारी पुरुषको ब्रह्म-विद्याका दान दिया जाय तो अखंड काल तकके लिये उसकी दीनता निवृत्ति हो जाती है। अन्य दानसे थोड़े समयके लिये ही कष्टकी निवृत्ति होती है और ब्रह्म-विद्याके दानसे हमेशाके लिये कष्ट निवृत्ति हो जाती है और परमानन्द प्राप्त होता है, जिसके पास आत्म तत्त्वरूप समृद्धि हो उसे तो अवश्य लुटाना चाहिये। ऐसा करनेसे दान देने वालेका निश्चय पक्का होता है और लेनेवाले परम कल्याण के भागी होते हैं, ऊपरके पद्यका समग्र अर्थ यह है कि रसकी लोलुप और दुष्ट शब्द बोलने-वाली जिह्वा से ईश्वरका गुण गाना, सबके अन्तर्यामी परमात्माका अपने अधिकारके अनुसार निरंतर ध्यान करना, सत्शास्त्र और सत् पुरुषोंका संग करना और दीनजनोंको दान देना, इन चारों बातों के करनेसे व्यवहार और परमार्थ दोनों सुधरते हैं, इसलिए उनका अवश्य आचरण करना चाहिये।

भगवद्गीता किंचिदधीता।
गंगाजल लव कणिका पीता॥
ये ना कारि मुरारे रर्चा।
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्॥१३॥ भ०

अर्थः—जिसने भगवद्गीता का थोड़ासा भी पाठ किया, जिसने थोड़ेसे भी गंगा जलका पान किया और जिसने मुरारि

प्रभुकी पूजा की, क्या यमराज उसकी चर्चा करता है ? नहीं करता। इसलिये गोविन्दका भजन कर।

गीताका कुछ पाठ किया है।
थोड़ा गंगा नीर पिया है॥
जिसने करी मुरारी अर्चा।
क्या यम उसकी करता चर्चा॥ १२ ॥ भज०

भगवद्गीताको विचार-पूर्वक पढ़नेसे तत्त्व-बोध होता है, ब्रह्मलोककी प्राप्ति अथवा ब्रह्म निर्वाणका फल होता है। भगवद्-गीता ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली है। गंगाजल निर्मल होता है, निर्मलका पान करनेसे पाप निवृत्ति-पूर्वक निर्मलता होती है, निर्मलताको उत्पन्न करनेवाली उपासना कही जाती है, मुर नामके दैत्यको मारनेवाले ऐसे जो मुरारि भगवान् हैं, उनका पूजन करना शुभ-कर्मरूप है। इस प्रकार जो ज्ञानी हैं, उपासक हैं अथवा ईश्वरका भजन पूजन करने वाले हैं, ये तीनों ही श्रेष्ठ होनेसे यमराजकी चर्चा करनेके विषय नहीं हैं, क्योंकि यमराजका दण्ड अधर्मियोंको होता है, धर्मियोंको श्रेष्ठ स्थानकी प्राप्ति होती है, ज्ञानी यमराजके अधिकार से बाहर है, उपासक इष्टकी सहायता होनेसे और शुभ ध्यानवाला होनेसे यमराजके दण्डका भागी नहीं होता और जिसने भगवान्का पूजन किया है, उसके यहां यम-दूतोंकी दाल नहीं गलती। जो ऊपरकी तीनों प्रकारकी श्रेष्ठता से रहित है, उसे ही यमदूत सताते हैं। यमका डर सबको है, परन्तु

ऊपर बताये हुये तीनोंमेंसे किसीको यमका भय नहीं होता। जो यमके दण्डका अधिकारी होता है, उस पर ही यमराज का विचार चलता है। मृत्युका भय सबको होता है, उस भय से निवृत्त करनेके लिये आचार्यजी तीनों प्रकारसे अथवा अधिकारके अनुसार एक दो किसी प्रकार से भी गोविन्दका भजन करनेको कहते हैं।

गीतायें अनेक प्रकारकी और अनेक नाम की हैं। इनमें बहुत सी प्रसिद्ध भी हैं। जैसेः—अर्जुनगीता, दत्तगीता, शिवगीता, सामगीता, पांडवगीता, नारदगीता, अष्टावक्रगीता, पिंगलगीता, अवधूतगीता, हंसगीता, संन्यासगीता, शंपाकगीता, मंकिगीता, बोध्यगीता, विचख्युगीता, हारितगीता, वृत्रगीता, पारासरगीता, ब्राह्मणगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, देवीगीता, ब्रह्मगीता, भिक्षुकगीता, यमगीता, व्यासगीता, सूतगीता और सूर्यगीता आदिक अनेक गीतायें हैं; परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता के गंभीरार्थ ज्ञान और कर्म के यथार्थ रहस्यके सामने किसीकी भी श्रेष्ठता नहीं है। बहुतसी गीताओं में भगवद्गीताका ही कुछ न कुछ आशय लिया गया है। सब गीताओंमें भगवद्गीताकी विशेष प्रतिष्ठा है और वह उपदेशके लिये सरल भी है। भगवद्गीताकी महत्ता इतनी है कि विद्वान् उसे ईश्वर स्वरूप ही मानते हैं, सब वेदोंका सारांश रूप वेद ग्रन्थ ही समझते हैं। छोटा बालक भी भगवद्गीताके नामसे अनजान नहीं है किसी भाविक द्विजके घरमें गीताका पुस्तक न हो, ऐसा संभव नहीं है। जैसे नित्य-

स्नान, संध्या आदि कर्म करनेमें आते हैं, ऐसे ही गीताका पाठ भी नित्य किया जाता है। संसार समुद्रमेंसे उद्धार करने वाले उपायोंमें गीताका पाठ मुख्य समझा जाता है। विद्वान् पुरुष पढ़ने और समझने योग्य पुस्तकोंमें गीता को सर्वोत्तम मानते हैं, किसी भी विषयमें भगवद्गीताका वाक्य आजाय तो वह विषय प्रौढ़तायुक्त समझा जाता है। गीताका प्रमाण अचल प्रमाण माना जाता है। इस गम्भीरार्थ वाली पुस्तकके संस्कृत भाषा में अनेक भाष्य और टिप्पणियां हुई हैं। जैसेः—श्रीधरी, मधुसूदनी, शंकरानंदी, सुबोधिनी, नीलकंठी, भावप्रकाश इत्यादि हैं। इसके सिवाय हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंगरेजी, जर्मन आदि अनेक भाषाओंमें उसका उलथा हुआ है और दिन पर दिन अनेक उलथा, विवेचन और टीका होते चले जाते हैं। भगवद्गीताके रहस्यको विद्वान् अनेक प्रकारसे प्रगट कर रहे हैं, यह इस ग्रन्थकी प्रौढ़ता है। गीताके एक एक पद श्लोक सूत्र के समान हैं, थोड़े शब्दोंमें विशेष विस्तारवाला अर्थ है, विद्वान् जितना विस्तार करना चाहें उतना कर सक्ते हैं इसलिये गीताकी जितनी स्तुति की जाय उतनी थोड़ी है, गीता की महत्ता दर्शाता हुआ गीतामाहात्म्य कहता है कि जो साक्षात् श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुये श्रीमद्भगवद्गीता का अभ्यास करता है, उसे अन्य शास्त्रके संग्रह करनेसे क्या प्रयोजन है ? एक तरफ सब शास्त्र और दूसरी तरफ अकेली श्रीमद्भगवद्गीता रक्खी जाय तो गीता वजनदार निकलेगी। सारांश यह है कि सब शास्त्रोंका सारांशरूप गीता है। उपनिषदोंसे भी गीताको

न्यून नहीं समझते; और भी कहा है कि सब उपनिषद् गौ हैं, उनके दूधको दुहनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् हैं, बुद्धिमान अर्जुन बछड़ा है और गीता अमृत रूप उत्तम दूध है, मतलब यह है कि सब उपनिषदोंका साररूप अमृत खेंचकर श्रीभगवान्ने अर्जुनको पिलाया है। ऐसी श्रीमद्भगवद्गीताका सम्पूर्ण तो क्या थोड़ासा पाठ भी किया जाय तो यमराज का द्वार देखना नहीं पड़ता। साक्षात् वेद भगवान्के ही वचन हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिये। गीताके एक एक पद और श्लोकमें संपूर्ण ज्ञान रहस्य भरा हुआ है, निश्चयता से किसी एक श्लोक अथवा पादको धारण किया जाय तो ज्ञानी होनेमें संदेह नहीं है, पढ़नेका यह मतलब नहीं है कि बिना समझे, बिना चित्त लगाये पाठ करे, समझ कर पाठ करना चाहिये। हृदयमें गीताका भाव ठहरे, अन्तःकरण की वृत्तियां गीताके बोधके अनुकूल होती चली जांय, ऐसा करनेवालेको ही सम्पूर्ण फल—ज्ञान होता है और इस प्रकार न करने वाले को पाठका फल तो होता ही है, परन्तु थोड़ा होता है। गीताका पाठ एक शुभ कर्म है, अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है, इसलिये निष्फल नहीं जाता। गीता में ही कहा है कि : हे तात् ! कल्याण करने वाला पुरुष कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। गीता पढ़ने वाले की स्थितिके लिये कहा है कि दुःखके समयमें जिसका मन उद्विग्न रहित होता है, और सुखोंमें जो इच्छा रहित होता है, राग, भय और क्रोध जिसमेंसे चला जाता है, ऐसा मनन करनेवाला स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है। अहाहा! कितनी उच्च स्थिति का

उपदेश है। गीता में ज्ञानकी मुख्यता होते हुये भी अधिकारीके लिये भक्ति, कर्म, योग, यज्ञ, ईश्वर प्रेम आदिका भी विवेचन है। ईश्वर मार्गमें चलनेवालेकी जैसी रुचिहै रुचिके अनुसार थोड़ेमें ही सब-सामग्री गीतामें मिल जाती है। गीता अमृत स्वरूपिनी है। जैसे अमृतका थोड़ा पान भी अमर कर देता है, इसी प्रकार गीता भी अमरपनेको प्राप्त कराती है। गीताके विषय में एक कविने कहा है:—

दोहा—जोगी ताको जानिये जो गीता को जान।
जोगी ताहि न जानिये जो गीताहि न जान॥ १॥
गीता बाहर से पढ़े भीतर त्यागी होय।
गीता बाहर ही सुने भीतर रागी होय॥ २॥
गी का वाणी अर्थ है ता तारण करनार।
शब्दातीतहि जानिये गीता का पढ़नार॥ ३॥
गीता ज्ञानमयी महा सब शास्त्रनको सार।
गीता जान लई जहां सभी शास्त्र निस्सार॥ ४॥
गीता त्यागी हृदय से सो यम भीता होय।
गीता रागी हृदय से सो यम जीता होय॥ ५॥

प्राचीन समयमें कुन्दनपुर शहर के पास गंगा किनारे पर त्यागाश्रम नामका एक आश्रम था। वह जंगल में आया हुआ था, वहां विशेष करके त्यागी लोग ही रहते थे उससे थोड़ी दूरपर ऋषिआश्रम था। वहां ऋषि लोग रहते थे और गंगा किनारे की तरफ कई तपस्वी तप करते थे। त्यागाश्रम में त्याग सहित ज्ञानो-

पदेश हुआ करता था। ऋषि लोग यज्ञादि क्रियायें किया करते थे और तपस्वी तप, उपासनामें लगे रहते थे; ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी पुरियोंके समान थोड़ी थोड़ी दूर पर ये तीनों स्थान थे। तीनों ही स्थान रमणीक थे। पास ही बड़ा शहर कुन्दनपुर था। वहांका राजा और प्रजा धार्मिक थे। उनसे तीनों आश्रमोंका भली प्रकार निर्वाह होता था, तीनों आश्रमोंमेंसे किसीको शहरमें जाना नहीं पड़ता था। जिस जिस वस्तुकी आवश्यकता होती थी शहर के भाविक लोग प्रेम सहित पहुँचा दिया करते थे, कई भाविक प्रतिदिन दर्शन करने आया करते थे और संक्रांति आदि शुभ पर्वोंके ऊपर वहांका स्थान शहर वालोंसे भर जाया करता था; मेला जुड़ जाता था। तीनों आश्रम वाले अपने स्थान और अधिकारके अनुसार चेष्टामें प्रवर्त रहते थे, तपस्वियोंके स्थानमें शांतिका साम्राज्य था, ऋषियोंके आश्रममें वेदकी ध्वनि हुआ करती थी और यज्ञकी सुगन्धि फैली रहती थी और त्यागियोंके स्थानमें महा वाक्योंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन हुआ करता था। वहां कई ब्रह्मनिष्ठ महात्मा विराजते थे। उनकी संनिधिक से सतोगुणका प्रभाव बढ़ता जाता था। इस स्थान पर रागी और त्यागी बारम्बार आते जाते रहते थे। आने वालोंमें एक पुरुष कुछ विलक्षण प्रकृतिका था। ब्रह्मानन्द नामके ब्रह्मनिष्ठ सन्तकी उसके ऊपर विशेष कृपादृष्टि थी, धनी, प्रतिष्ठित और ओहदेदार बहुत प्रकारके मनुष्य आते थे परन्तु एक सामान्य मनुष्यके ऊपर कृपा और स्वाभाविक प्रेम होनेका कारण स्वयं ब्रह्मानन्द भी नहीं

जानते थे। वह मनुष्य क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुआ था, गरीव था और आजीविकाके लिये उसने एक जिमींदारकी नोकरी कर ली थी। उसके घरमें उसकी स्त्री, एक पुत्र और एक पुत्री तीन प्राणी थे। गरीबाईसे वह अपनी गुजर करता था और सन्तुष्ट रहता था, उसकी स्त्री भी सन्तोपशाली थी और पुत्र पुत्रीमें भी माता पिताके सन्तोपका प्रभाव पड़ा था। ऐसा होनेसे गरीव होने पर भी यह कुटुम्व सुखी था। जिमींदारकी नोकरीसे जब जब उसे अवकाश मिलता था तव तव वह त्यागाश्रम आदि आश्रमोंमें जाया करता था। वहां जा कर प्रणाम करके वैठ जाया करता था, कुछ वोलता चालता न था। क्रियाओंको देखता और जो सुननेको होता उसे सुना करता था। उसका चित्त हमेशा प्रसन्न रहता था, यथाविधि सव प्रकारके व्यवहार करता हुआ भी वह व्यवहारिक मनुष्योंके अधिक संसर्गमें नहीं आता था और व्यवहारमें भी थोड़ा वोलता था। सारांश यह है कि वह अपने मार्गमें ही चलनेवाला सीधा सादा मनुष्य था। ब्रह्मानन्दके पास भी वह आया करता था। ब्रह्मानन्द उससे विशेष परिचित होनेके लिये चाहते थे कि वह कुछ बोले परन्तु वह बोलता न था। एक दिन ब्रह्मानन्दने ही कहा "हे भाविक ! मैं तेरा विशेष परिचय चाहता हूं, तेरे मुखकी प्रसन्नता, तेरी सभ्यता और तेरा वस्त्रादिकका पहिनना मुझे विलक्षण मालूम होता है !" मनुष्य बोला "महात्माजी ! मुझमें विलक्षणता कुछ नहीं है, मैं एक गरीब राजपुत्र हूं, मेरा नाम पथिकचन्द है, एक छोटीसी

नौकरी करके अपना गुजारा करता हूं !" ब्रह्मानन्द बोले "नहीं ! नहीं ! तेरा चेहरा नहीं कहता कि तू गरीब है, गृहस्थियोंमें तेरी गरीबी भले विख्यात हो परन्तु मेरी दृष्टिसे तू गरीब नहीं है, श्रीमान् है ! ज्ञानकी प्रभा तेरे मस्तक पर विराजमान है । तेरा व्यवहार कैसा ही हो,वह मुझे पूछना नहीं है,तूने कौन २ शास्त्र पढ़े हैं ? तेरा निश्चय क्या है ? कौनसे पदार्थकी प्राप्तिसे तुझे इस प्रकारकी अखंडित प्रसन्नता है ? मैं देखता हूं कि रागद्वेष वाले पदार्थोंमें भी तेरा चित्त विकारको नहीं प्राप्त होता । तू मूर्ख हो, ऐसा भी नहीं है, तुझमें मुझसे भी कुछ विशेषता दीखती है ! मैं दुनियाके डरसे भागा हुआ हूं, रंगीन वस्त्र धारण करके, एकांतमें रह कर शास्त्रके उपदेश और अपने अनुभवसे ब्रह्मनिष्ट हुआ हूं तो भी मेरी चित्तवृत्ति तेरे समान विकार रहित नहीं है ! मैं पूछता हूं, तू क्या जानता है ?" पथिकचन्द बोला "महाराज, मैं अपने मार्गमें चल रहा हूं, जहां जाना है उसके लक्षसे सीधे मार्ग चल रहा हूँ, मार्गके पदार्थ मुझे बाधा नहीं देते, मैं सन्त महात्मा नहीं हूँ, शास्त्रोंका पठन भी मैंने नहीं किया है, जब मैं छोटा था तब हमारे यहां एक सन्त आया करते थे, उन्होंने मुझे गीताका अध्ययन कराया था और यह भी कह दिया था कि अब तुझे अन्य शास्त्रके पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, छोटीसी एक गीता जो तूने अर्थ सहित पढ़ी—समझी है, वह ही बहुत है । तबसे मैंने कोई अन्य शास्त्र नहीं देखा, न देखनेकी मेरी इच्छा है । गीताके उपदेशके अनुसार ही मैं अपना बर्ताव करता

हूं, सब गीतामेंसे जो सार मैंने ग्रहण किया है, वह यह है:—मैं सब प्रकारके व्यवहारिक धर्मों के भावसे रहित होकर तन मन और धनसे ईश्वरार्पण हो चुका हूं, किसी कार्यमें भी मैं अपनेको कर्त्ता भोक्ता नहीं मानता, मैं अपनी सत्ता ईश्वरसे बाहर नहीं मानता, इसीसे मैं विकार रहित हूं, जब मैं ईश्वरसे पृथक् नहीं हूँ तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार मुझमें किस प्रकार हों? मैं समझता हूँ कि कर्ममें मेरा अधिकार है, फलमें नहीं है, क्योंकि कर्मके लिये ही मेरा शरीर पैदा हुआ है, इसलिये शरीरसे पूर्व प्रारब्धके प्रवाहके अनुसार शुद्ध बुद्धिसे विचारपूर्वक कर्म होते रहते हैं, कर्मके संस्कार और फलके संस्कारोंको मैं अपने साथ नहीं जोड़ता, जब मैं ईश्वरसे पृथक् नहीं हूं तो ईश्वरसे पृथक् कर्म फलकी इच्छा मुझे किस प्रकार हो? यह भाव हमेशा बना रहता है। भूल करके भी कर्त्ता भोक्ताका विशेष अहंभाव मुझमें कभी नहीं आता। इसीलिये शांत और प्रसन्न रहता हूं। मुझे त्याग अथवा रागमें भी अधिकता अथवा न्यूनता नहीं दीखती! यह मेरा सच्चा वृत्तान्त है। इतना सुन कर ब्रह्मानन्दने अति प्रसन्न हो कर स्वाभाविकतासे ही पथिकचन्दको प्रणाम कर दिया! पथिकचन्द किसी प्रकार खिन्न होता हुआ विनयपूर्वक बोला "महाराज, व्यवहार दृष्टि से आपका यह कार्य उचित नहीं कहा जा सकता!" ब्रह्मानन्द बोले "भाई, व्यवहारिक दृष्टिसे मुझे क्या? गृहस्थ दीखते हुये भी मुझ त्यागीसे तेरी ब्रह्मनिष्ठता प्रबल है! तू श्रीभगवद्गीतामय बन गया है। जब

तुझे गीता प्रिय है तो गीताकी प्रत्यक्ष मूर्ति तू मुझे प्रिय क्यों न हो ? होना ही चाहिये ।" वाह, वा ! श्रीमद्भगवद्गीता गीता ही है । जिसने गीता रहस्यको . जान लिया वह कृतार्थ हुआ ।

जिस प्रकार ज्ञानकी श्रेष्ठतामें गीता मुख्य है इसी प्रकार निर्मल करनेवालों में गंगाजी श्रेष्ठ हैं । गंगा सुरसरि (देवनदी) कही जाती है इसलिये अन्य सब नदियों से गंगाजी की श्रेष्ठता है । जो पवित्र होता है, वह ही दूसरे को पवित्र कर सकता है, यह नियम है । गंगाजी पवित्र हैं, इसलिये अन्यको भी पवित्र कर सकी हैं । पुराणोंमें गंगाजीका प्रताप—माहात्म्य स्वर्गदा आदिक वर्णन है शंकर और विष्णु सब देवोंमें मुख्य हैं, उन दोनों के सम्बन्ध वाली गंगाजी हैं । शंकरकी जटाकी प्रवाहरूप और विष्णुका चरणोदकरूप गंगाजी की पवित्रता और माहात्म्य विशेष है । महत्पुरुषोंके संग स्पर्शसे जड़ पदार्थ भी पवित्र और माहात्म्यवाले हो जाते हैं तो यह तो देवनदी है, महत्के आश्रय, संग और स्पर्शवाली है, तब उसमें पवित्रता क्यों न हो ? जगत्के हितके निमित्त भगीरथ की स्तुति, तपश्चर्या और प्रार्थना द्वारा जिसका जगत्में आविर्भाव हुआ है, ऐसी सुरसरिता श्रीगंगाजीमें पवित्रता क्यों न हो ? पवित्र करनेके हेतु ही जिसका जन्म हुआ है, ऐसी गंगा भाविक मनुष्योंको अवश्य पवित्र करती है । गंगाजीका एक समयका स्नान सात जन्मोंके पापोंको नाश करनेवाला है, ऐसा कथन पुराणोंमें मिलता है । थोड़े समयके लिये पुराणों के कथन को दूर रख दिया जाय तो भी गंगाजी की पवित्रता

निर्विवाद है क्योंकि स्वधर्म और परधर्मवाले सबको गंगाजी की पवित्रता कबूल करनी पड़ती है। भौतिक दृष्टिसे भी गंगाजी का जल हलका, पवित्र, निर्मल, मीठा और रोगनाशक सिद्ध हुआ है। जिस स्थानमें से गंगाजीका प्रवाह चालू हुआ है, वह हिमालयमें ऊंचे स्थान पर आया हुआ मानसरोवर है, हिमालयमें से अन्य भी कई नदियोंका प्रवाह चालू हुआ है परन्तु वे स्थान गंगाजी के आद्य स्थानके समान निर्मल और पवित्र नहीं हैं, गंगाजीका प्रवाह बरफके पिघले हुये जलसे है वह बरफ भी ऐसे स्थान पर है; जहां किसी प्रकार के पशु, पत्ती, जीव जन्तु अथवा वनस्पति नहीं है, मिट्टी भी नहीं है, निर्मल पाषाणमें से प्रवाह आता है, उसमें किसीका मेल नहीं होता, वहांका वायु भी शुद्ध, पवित्र और अशुद्ध संस्कारों के परमाणुओंसे रहित है इसीलिये गंगाजल विशेष शुद्ध है, गंगोतरीके शुद्ध जलको बोतल में भरकर रखनेसे वर्षों तक उसमें जीव नहीं पड़ते, यह विशेषता है, इन सभी कारणोंसे और श्रद्धाकी विशेषता से गंगा पवित्र करने वाली है। बहुतसे तीर्थ गंगा तट पर आये हुये हैं और भाविक हमेशा, बहुत प्रयास करके भी गंगा स्नान प्राप्त करते हैं।

स्थूल बुद्धि वालेको गंगा स्नान, गंगाजल पान पवित्र करने वाला है, देवताओं की तरफसे आया हुआ ऐसा जो चैतन्यका प्रवाह है, वह देव गंगारूप उपासना है। जैसी गंगाजी निर्मल हैं, ऐसी ही उपासना निर्मल और पवित्र करनेवाली है इसलिये गंगाजल पानके साथमें उपासनाका भी पान करना-सेवन करना

समझना चाहिये। सूक्ष्मता में योग शास्त्रानुकूल जब ध्यान किया जाता है तब मस्तकमें से एक प्रकारकी शीतलता नीचे उतरती है और उससे योगीका शरीर चन्द्रामृत से पूर्ण होकर दृढ़ होता है। योगी उसको अमृत पान कहते हैं, वह ही गंगा स्नान और गंगा पान है, पिंड और ब्रह्मांडकी एकता है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत—कैलास स्थूल ब्रह्मांड में है; इसी प्रकार पिण्डमें मस्तक का ऊपरका भाग उत्तर में हिमालय और कैलास है, जैसे गंगाका वहन कैलाशमें से नीचेकी तरफ होता है; इसी प्रकार शीतल, शुद्ध और पवित्र करनेवाला चन्द्रामृत मस्तक में से नीचे की तरफ गिरता है इसलिये वह भी गंगा स्वरूप है। नाड़ियों में चन्द्र स्वरूप ऐसी गंगा नाड़ी प्रसिद्ध है जो शांति करने वाली और योगाभ्यास में आरंभरूप है, इस प्रकार भाव और क्रियाके अनुसार स्थूल गंगाका स्नान, पान अथवा सूक्ष्म गंगाका स्नान पान अधिकारियों को पवित्र करने वाला है। जो इस प्रकारके भाव सहित गंगाका स्नान पान करता है, वह शुभकर्म करने वाला होने से नरकमें नहीं जा सकता इसलिये यमराजा उसकी चर्चा नहीं करता यानी वह पुरुष यमयातनामें नहीं पड़ता, या तो पवित्र होकर शुभ कर्मोंके प्रभाव से स्वर्गादिक पुण्य लोकोंको प्राप्त होता है अथवा अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध होने से तत्त्वज्ञान से परमपदको प्राप्त होता है।

इसी प्रकार मुरारि प्रभुकी पूजा भी सब प्रकारके पापोंको नाश करनेवाली और यमयातना से छुटानेवाली है। कायिक,

वाचिक और मानसिक तीन प्रकारकी पूजा होती है, जो जितनी सूक्ष्म होती है, उतनी ही प्रवल होती है। वास्तविक रीतिसे तो देश, काल और वस्तुसे परिच्छेद रहित ईश्वरका पूजन करना— उसको परिपूर्ण जानना चाहिये, मन वाणीसे अगोचर ईश्वरको विवेक, वैराग्य और निश्चयात्मक बुद्धिसे सत्संग और शास्त्र द्वारा जान सकते हैं। ऐसे सर्वात्मक भाव होनेसे ईश्वरका निरंतर चिंतवन होता है परन्तु सब मनुष्य इस प्रकारका पूजन कर नहीं सकते, जो ऐसा नहीं कर सकते उनको तो मन, वाणी और क्रियासे मणि-मूर्ति आदिक पदार्थों में ईश्वरका आवाहन करके पूजन करना चाहिये। स्थूल पूजन भी मन वाणी संयुक्त ही होता है परन्तु उसमें स्थूलकी विशेषता होनेसे वह स्थूल पूजन कहा जाता है। सगुण, साकार आदि भेदसे पूजन कई प्रकार का होता है और इष्टके अनुसार होता है, प्रतिमा पूजनमें प्रतिमा स्थापित-स्थिर हो अथवा अस्थापित—अस्थिर हो, जिस प्रकारकी प्रतिमा हो उस प्रकार और उसकी विधिके अनुसार पूजन होता है। ऐसे ही मानसिक प्रतिमा पूजन होता है, स्थूल पूजन में सामग्री स्थूल होती है और मानसिक में मानसिक होती है। दोनोंमें श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये, क्योंकि जितनी श्रद्धा दृढ़ होती है, उतना ही पूजन संस्कार दृढ़ होता है और दृढ़ संस्कार फलमें मददरूप होता है। संसारका शरीर होते हुये संसार की निवृत्ति नहीं होती और शरीरके साथ शरीरका व्यवहार भी लगा ही रहता है, इसलिये संसार की तरफकी वृत्ति नहीं छूटती,

संसारका भाव और वृत्ति दृढ़ हो गई है, उन्हें कमजोर करनेमें ईश्वरकी तरफकी क्रिया—वृत्ति मदद देती है। जब वृत्ति रुक नहीं सकती तो ईश्वर भावकी वृत्ति करना ही अच्छा है, इसमें ही ईश्वरकी प्रसन्नता है। ईश्वर भाव यमयातनासे छुटाने वाला है। संसारकी वृत्ति तो इच्छा अथवा अनिच्छासे हुआ ही करती है, वृत्ति विना मन टिक नहीं सकता किन्तु उस वृत्तिका अवलम्बन क्रियामें वदल सकते हैं, वह ही ईश्वर भाव और ईश्वर पूजन है, अधिकारियों के भेदसे पूजन आदिका भेद है परन्तु ईश्वरकी तरफका भाव सव प्रकारके पूजनमें अवश्य होता है।

मुर नामका दैत्य, अनेक उपद्रव करनेवाला और विकट था। विष्णु अवतारने उसका मर्दन किया था। विष्णु भगवान् प्रत्येक मनुष्यके भीतर रहे हुये हैं, उनका भजन करनेसे अज्ञानी मनुष्यके भीतर रहे हुये अज्ञानरूप मुर दैत्यका नाश होता है इसलिये यहां पर मुरारि प्रभुका पूजन कहा है; संसारासक्ति, अज्ञान—अविद्या दुःखका हेतु होनेसे राक्षस है। वह ही कष्ट देता है, बारंबार अज्ञानमें किये हुये कर्मोंसे यमराजका दण्ड भोगना पड़ता है। यदि अज्ञान निवृत्त हो जाय तो दण्ड भोगना न पड़े! अज्ञान निवृत्तिका कारण ईश्वरका पूजन है। मायाका पूजन बंधन करनेवाला है और ईश्वरका पूजन मायामेंसे छुड़ानेवाला है, भजन करनेवाले मोक्षको प्राप्त होते हैं। भजनसे कितने कालमें मोक्ष प्राप्त होगा, यह नहीं कहा जा सकता। पूर्व संस्कार और भावकी तेजी ही मोक्ष में कारण है, कोई संस्कारी

ता क्षणभरमें ही मोक्षको प्राप्त हो जाता है, कोई एक दो जन्मोंमें और कोई अनेक जन्मों में मोक्षको प्राप्त होता है, देर भले हो परन्तु पूजन भजन करनेवालोंका परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। जब संसारकी तरफका परिश्रम भी तुरन्त अथवा कालांतरमें फल अवश्य देता है; तो ईश्वरकी तरफका परिश्रम किस प्रकार निष्फल जाय? नहीं जाता।

नीति, धर्म और न्याय मार्गको छोड़नेवाले, वर्णाश्रम धर्मका विचार न करनेवाले, दूसरोंको कष्ट पहुंचानेवाले ईश्वरका डर न रख कर वर्तनेवाले, मर्यादाको तोड़नेवाले, अधम स्वार्थमें ही अर्थको समझने वाले, निर्दयी, अभिमानी, काम क्रोधसे पूर्ण, शास्त्रसे विरुद्ध वर्तनेवाले, इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले, आस्ता रहित, पापकर्ममें प्रीति वाले, आप्तजनोंका अनादर करने वाले, सत्यासत्यको न समझनेवाले, वस्तु स्थितिके विचार रहित, मूर्ख, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले, मन वचन कर्मसे हिंसा करनेवाले, शिष्ट संप्रदायसे विरुद्ध वर्तने वाले, गीतापठन, गंगास्नान और ईश्वर पूजनसे रहित, शरीर, इन्द्रियोंको पोषण करने वाले, यमराजकी शिक्षाके पात्र होते हैं।

एक समय लोकोंमें विचरते हुये लोगोंकी अनेक प्रकारकी चेष्टा देखते हुये शंकासे युक्त हुये नारदजी यमराजके पास पहुंचे, यमराजने नारदजीका पूजन किया, और आदर सहित पास बैठा कर कहा "हे भक्तराज! आपके दर्शनसे मैं आज कृतार्थ हुआ हूँ, मैं आपका कौनसा आतिथ्य करूं?" नारद बोले "हे धर्मराज!

आपकी तो कृपा ही होनी चाहिये! तीनों लोक आपके भयसे कांप रहे हैं, तीनों लोकों पर आपका अधिकार है।' यमराज बोले "हे नारद, आप ऐसा मत समझिये, मेरा अधिकार अधर्मियों पर ही चलता है, मैं सन्त, महात्मा, भक्त जनोंका दर्शन करना चाहता हूँ, परन्तु उनका दर्शन मुझको नहीं होता! इसीसे कहता हूँ कि आज मेरा अहोभाग्य है कि आपके दर्शन हुये।" नारद बोले, अच्छा, तब आप बताइये कि आपका अधिकार किन २ पर चलता है और किन २ पर नहीं चलता। यमराज बोले, जो ज्ञानी पुरुष है, भक्तराज है, उनके ऊपर मेरा अधिकार नहीं चलता, मेरा ही अधिकार न चलता हो, इतना ही नहीं किंतु इन्द्र जो तीनों लोकोंका राजा है, उनका भी उन पर अधिकार नहीं चलता, वे उसके अधिकारसे बाहर हैं, ऐसे पुरुष तो हम लोगोंको वन्दनीय है! मतलब यह है कि जो गीताका जानने वाला है, वह हमारे लिये पूजनीय है, क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप है, दूसरे जो गंगा स्नान और उपासनामें प्रवर्त है, वे ब्रह्मलोक अथवा अन्य उच्च लोकोंमें जाने वाले हैं, इसलिये श्रेष्ठ हैं, उनके ऊपर हमारा अधिकार नहीं चलता, हम उनका आदर करते हैं और जो ईश्वर पूजन आदि शुभकर्मों में प्रवर्त हैं, ईश्वरके निमित्त आचरण करनेवाले है, वे पुण्यलोकको प्राप्त होते हैं, वे भी श्रेष्ठ हैं और हमारे आदर करने योग्य हैं, ऐसे तीन प्रकारके मनुष्यों पर हमारा अधिकार नहीं चलता, चौथे जो अधर्मी हैं, तीनों प्रकारके कार्यसे रहित हैं, वे ही मेरी यमयातना के अधि-

कारी होते हैं, उन लोगोंको ही मेरा डर है। जो मैंने ऊपर बताये हैं, उनको न तो मेरा डर है और न मैं उनका कुछ कर सकता हूँ, हे नारद, ऐसे महानुभावोंकी तरफ मैं क्रूर दृष्टिसे देख भी नहीं सकता। उनके सामने मुझे हाथ जोड़ना ही बनता है। इसीलिये ईश्वर भजन करना श्रेष्ठ है।

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः।
का मे जननी को मे तातः॥
इति परिभावय सर्वमसारं।
सर्वं त्यक्त्वा स्वप्न विचारम्॥१४॥ भ०

अर्थः—मैं कौन हूँ, तू कौन है, कहांसे आया है, मेरी माता कौन है, मेरा पिता कौन है; इसका विचार करके स्वप्नके समान जान कर सबका त्याग कर, सब नाम रूपात्मक जगत् को असार मान ले, गोविन्द का भजन कर।

को मैं, को तू, कहँसे आया।
कौन पिता किस मा ने जाया॥
स्वप्ने सम ये सब निर्धारो।
सार रहित सब जगत् विसारो॥१४॥भज०

जगत्की तुच्छता जानकर मोक्ष मार्गमें प्रवृत्त होनेके लिये कैसे विचारकी आवश्यकता है और यह जगत् किसके समान है, इसका विचार करनेको इस पद्यमें कहा है। 'मैं कौन हूँ' इय

प्रश्न दो प्रकारकी दृष्टिसे होता है, एक शरीरदृष्टि यानी व्यवहारिक दृष्टिसे और दूसरे तत्त्व दृष्टिसे। 'मैं हूँ' यह व्यवहारिक दृष्टिसे सब जानते हैं, तत्त्वदृष्टिसे इसका जानना कठिन है, व्यवहारिक दृष्टिसे विचारते हुये, शुद्ध बुद्धिका उपयोग करते हुये अशुद्ध, परिवर्तन वाले, प्रतीतिमात्रको छोड़नेसे जब तत्त्वदृष्टि होती है तब ही अपने वास्तविक तत्त्वका पता लगता है। जब मैं का पता लग जाता है तब तू और वह, माता पिता इत्यादि सबका पता लग जाता है। इस जगत्के जितने व्यवहार हैं, वे सब स्वप्नके व्यवहारसे किंचित् भी विशेषता वाले नहीं है, स्वप्नके मिथ्या होनेका सबको अनुभव है, जाग्रत् जगत् भी इसी प्रकारका है, इसलिये वह भी मिथ्या ही है, इस मिथ्याके त्यागसे जिसमें मिथ्याकी प्रतीति हो रही है, वह तत्त्व ही शेष रहता है।

जैसे पंच महाभूतोंके बने हुये अपने शरीरको 'मैं' मानते हैं इसी प्रकार अपनेसे भिन्न दूसरेके शरीरको 'तू' ऐसा कहते हैं। यह स्थूल देह जिन करके बना हुआ है, जिनके पोषण करनेसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है, उन दम्पतिको माता पिता कहते हैं और ऐसा समझते हैं कि उन दम्पतिसे ही इस संसारमें हमारा आना हुआ है। व्यवहारमें यह ठीक होते हुये भी विचारने योग्य है! जब स्थूल शरीरको ही 'मैं हूँ' ऐसा मानते हैं तब ठीक नहीं है क्योंकि सूक्ष्म विचारसे देखते हैं तो केवल स्थूल शरीर ही 'मैं हूँ' यह सिद्ध नहीं होता तब मैं, तू, माता, पिता और आगमन सब ही झूंठ हो जाता है, शरीर पंच महाभूत और अनेक अंगके समु-

दायसे बना हुआ है। पंचमहाभूतोंमें आकाश मैं हूं, वायु मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, जल मैं हूं अथवा पृथिवी मैं हूं, ऐसा कोई नहीं कहता; हाथ, पैर, पेट, शिर, अंगुली, कमर आदिक अवयवोंको कोई 'मैंहूँ' ऐसा नहीं कहता, सब मेरा ही कहते हैं, इसी प्रकार मुख, नाक, चमड़ी, आंख, आदिकको भी कोई 'मैं हूँ' नहीं कहता। शरीरमें पांच कर्मेन्द्रिय हैं, जो कार्य करती हैं, वे मैं नहीं हूँ परन्तु वे मेरी हैं, वे सब मेरी सत्तासे कार्य करती हैं, जब मैं चाहता हूँ, तब उनसे कार्य लेता हूँ अथवा नहीं लेता हूँ इसलिये वे सब इन्द्रियां मुझसे पृथक् हैं, इसी प्रकार दीखते हुये शरीरको भी मैं, मेरा कहता हूँ तब उसे मेरा कहनेवाला मैं कौन हूँ? शरीरके ऊपर न दीखते हुये, शरीरके भीतर भरे हुये रस, लोहू, मांस, मेद, अस्थि और मज्जा भी मैं नहीं हूँ, उनका समुदाय भी मैं नहीं हूँ, उन्हें देख कर तो मुझे घृणा आती है! इन सब धातुओं की स्थिति मुझसे है, मैं उन सबकी स्थितिका हेतु हूँ, मेरी सत्तासे ही वे अपने अपने कार्य करनेमें समर्थ होती हैं। यदि वे ही मैं होता तो मुझे उन पर घृणा क्यों आती? टूटे हुये अंगको मैं क्यों फेंक देता हूं? इससे सिद्ध होता है कि धातुरूप मैं नहीं हूँ, तब क्या मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी वृत्तियों करके प्रकट होने वाला सूक्ष्म शरीर मैं हूँ? नहीं! वह भी मैं नहीं हूँ क्योंकि प्रत्येक वृत्ति और वृत्तिके अभावका ज्ञाता मैं हूँ, वृत्तियोंका प्रवर्तक मैं हूँ, जो वृत्तियोंका प्रवर्तक है, वह वृत्ति नहीं हो सकता इसलिये मैं वृत्ति रूप नहीं हूँ, अन्तःकरणके धर्मोंको जाननेवाला होनेसे मैं अन्तः-

करणसे पृथक् हूँ, जब मैं स्थूल और सूक्ष्म शरीररूप नहीं हूँ तब क्या मैं कारण शरीररूप हूँ ? नहीं ! कारण शरीर अबोधरूप है, जड़ है, मैं अपनेको अबोध अथवा जड़रूप कहनेको तैयार नहीं हूँ क्योंकि मैं कारण शरीरका जाननेवाला हूं, जाननेवाला जाननेके पदार्थसे पृथक् होता है, ऐसे तीनों शरीर मैं नहीं हूँ तब मैं कौन हूँ ? तीनों शरीरोंसे अतिरिक्त मैं दीखता नहीं हूँ, तब मैं होऊंगा ही नहीं, ऐसा भी तो कहा नहीं जा सकता । जिस प्रकार तीनों शरीर अथवा तीनों शरीरोंमें कोई अंग मैं नहीं हूँ, इसी प्रकार तीनों शरीरका समुदायरूप भी मैं नहीं हूँ, तीनों शरीरकी स्थिति स्थूल शरीरमें ही है । स्थूल शरीरसे अन्य दो शरीर दिखाई नहीं देते । शरीरोंका नाश होता है, मेरा नाश नहीं है क्योंकि शास्त्रके कथनानुसार दूसरा शरीर धारण करके पुण्य पापादिकका भोग मुझे भोगना पड़ता है, तब मैं कौन हूँ ?

जैसे मेरे शरीरका होना माता पिता आदिकसे होता है ऐसे ही मैं जिन्हें तू और वह कहता हूँ, उनकी उत्पत्ति भी इसी प्रकार है, वे भी मेरे समान पंचभौतिक ही हैं, वे भी तू और वह कहनेके योग्य नहीं हैं, मैं इनको अपनेसे पृथक् समझ कर तू और वह कहता हूं, जो मरनेवाला होता है उसकी ही उत्पत्ति होती है, जो उत्पन्न होता है, उसका मरण अवश्य होता है । शरीर-से विलक्षण और पृथक् ऐसा जो कोई मैं हूँ, वह शरीरसे पहिले नहीं था, ऐसा नहीं कहा जाता और शरीरके साथ उसका नाश भी नहीं होता. तब उत्पत्ति और नाश रहित ऐसा जो मैं उसके

आना जाना भी नहीं हो सकता, तब मैं कौन और कैसा हूं ? माता पिताके पंच भौतिक शरीरसे मेरा पंच भौतिक शरीर हुआ है, मैं नहीं हुआ।

स्थूल शरीर, इन्द्रिय और उनके पदार्थ इत्यादिकका संघात सब यहां ही रह जाता है। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरका भी ज्ञानसे नाश हो जाता है इसलिये वे मैं नहीं हूं, मैं तो शुद्ध निर्विकार हूँ, नित्य हूँ। जन्मना मरना, आना जाना, देहके धर्म हैं, भ्रांतिसे मुझमें भासते हैं, जैसे गरम पानी पर पैर पड़नेसे लोग ऐसा कहते हैं कि पानीसे पैर जला, परन्तु पैरका जलना पानीसे नहीं होता, अग्निसे होता है क्योंकि पानीका गरम होना अग्निसे है। जैसे आकाशमें जब बादल चलते हैं तो चन्द्र चलता हो ऐसा दीखता है, ऐसा दीखना भ्रमसे है, विशेष चालसे बादल ही चलते हैं। जैसे रेलगाड़ीमें बैठकर जाते हैं तो सामनेके वृक्ष मकान आदिक चलते हुये दीखते हैं, वस्तुतः वे चलते नहीं हैं, गाड़ीके चलनेसे वृक्षादिक चलते हों, ऐसा मिथ्या भान होता है, इसी प्रकार भ्रमसे देहादिकके धर्म मुझमें आरोपित हैं। जब तक मैं नहीं समझता था तब तक शरीरके धर्म अपने मानता था परन्तु अब कुछ समझमें आया है तब इन शरीरके विकारोंको मैं अपनेमें क्यों मानूं ? मैं अपनेको मन वाणीसे नहीं जान सकता।

शास्त्रवाक्य, गुरुवचन, युक्ति और विचार करनेसे यह ही सिद्ध होता है कि मायिक पंचभूतोंसे पंच भौतिक शरीरकी उत्पत्ति है। पंचभूतोंसे बने हुये शरीरका नाश भी पंचभूतोंमें है। मेरा और

माता पिता आदिक सबका शरीर ऐसा ही है। शरीर की उत्पत्ति माता पिताके शरीर से कहो तो कहो परन्तु मैं जो चेतन स्वरूप, निर्विकार, अपरिच्छिन्न हूँ, उत्पत्ति नाश रहित हूँ, मेरा आना कहींसे नहीं हुआ. अज्ञानसे शरीरके आने जाने आदिकका भास मुझमें होता है। अज्ञानकी दृष्टिको हटा कर लक्षसे देखा जाय तो मैं स्वयंसिद्ध हूं और सब प्रकारके विकारोंसे रहित हूँ। जगत् को समझने के लिये शास्त्रकारोंने स्वप्नके समान कहा है। अब विचारना चाहिये कि स्वप्न और इस जगत्में कौनसी समानता है और किस प्रकारका अंतर है। जाग्रत् जगत् और स्वप्न जगत् का उपादान कारण कौन है और इस जगत्में भोक्ता कौन है ?

सब जानते हैं कि स्वप्न झूंठा है। मरे हुये को जीता देखना, न हुयेको हुआ देखना, कोई सामग्री और कारण न होते हुये भी उत्पत्ति और मरणको देखना, भय न होते हुये भयको देखना, विषय न होते हुये विषयोंका भोग होना इत्यादि अंट संट असंभवित दृश्य स्वप्नमें दिखाई देता है। जाग्रत् में ऐसी असंभवित बात कोई भी नहीं है, इसलिये जाग्रतको कार्य कारण संयुक्त नियमबद्ध समझते हुये स्वप्नको सब झूंठा कहते हैं। लोग जाग्रतको सत्य और स्वप्नको मिथ्या समझते हैं, क्या वास्तविक ऐसा ही है या कुछ और है ? इनका विचार करना चाहिये। स्वप्न झूंठा है, ऐसा जो कोई कहता है, जाग्रतावस्थामें ही कहता है, स्वप्नमें देखा हुआ स्वप्न पुरुष स्वप्नमें स्वप्नको झूंठा नहीं कह सकता. और जो असंगत और असंभवित दृश्य देखनेमें

आते हैं, उनको असंगत और असंभवित नहीं जानता। ऐसा बोध भी नहीं होता कि मैं स्वप्न देख रहा हूं, स्वप्नको जाग्रत् ही समझता है और जाग्रतके समान ही सत्य जानता है। वहां स्वप्नकी सत्यता होती है और जाग्रत्की असत्यता होजाती है क्योंकि देखा जाता है कि स्वप्नका भूखा स्वप्नके भोजन से तृप्त होता है, जाग्रत्का कंगाल स्वप्नमें श्रीमान् होजाता है और जाग्रत्का लक्षपति स्वप्नमें भिखारी बनकर भीख मांगता फिरता है। ऐसे स्वप्नकी अवस्थामें जाग्रत्का व्यवहार और जगत् झूंठा होता है। जैसे जाग्रत्में स्वप्न झूंठा होता है ऐसे ही स्वप्नमें जाग्रत् झूंठा होजाता है, सच्चे और झूंठ होनेमें दोनोंकी समानता है। अपनी अवस्था सची और अन्य झूंठी है। जाग्रत् वालेको स्वप्न झूंठा और स्वप्न वालेको जाग्रत् झूंठा होता है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत्की साम्यता है।

स्वप्नके पदार्थ झूंठे और जाग्रत्के सच्चे बताये जाते हैं, यह अयुक्त है, जब दोनों अवस्थायें समान हैं तब उनके पदार्थ भी समान ही हैं। स्वप्नावस्थामें स्वप्नके पदार्थोंको कोई झूंठा नहीं कहता तब वे झूंठे किस प्रकार हैं ? जैसे जाग्रत् में जाग्रत् और जाग्रत् के पदार्थ सच्चे हैं ऐसे ही स्वप्न में स्वप्न और स्वप्नके पदार्थ सच्चे हैं, जैसे जाग्रत्वाला स्वप्नके पदार्थोंको झूंठा कहता है ऐसे स्वप्नावस्थामें जाग्रत् और जाग्रत्के पदार्थ सच्चे नहीं रहते, इसलिये दोनों अवस्थाओंके पदार्थ एकही प्रकारके हैं, यदि कोई कहे कि स्वप्नके पदार्थ तो इसलिये झूंठे हैं कि स्वप्नके

पदार्थ जाग्रत्में नहीं रहते, इतना ही नहीं, दूसरे स्वप्नमें भी वे पदार्थ नहीं रहते और जाग्रत्के पदार्थ तो स्वप्नमें प्रतीत न होते हुये भी बने रहते और जाग्रत् होने पर वे ही पदार्थ ज्योंके त्यों जहांके तहां दिखाई देते हैं इसलिये जाग्रत्के पदार्थ सच्चे हैं और स्वप्नके पदार्थ झूठे हैं, यदि जाग्रतके पदार्थ भी स्वप्नके समान झूठे हों तो एक जाग्रत्के पदार्थ दूसरे जाग्रत्में न रहने चाहिये! ऐसा नहीं होता, पदार्थ बने रहते हैं इसलिये जाग्रत् और जाग्रत्के पदार्थ सच्चे हैं और स्वप्नके पदार्थ ऐसे न होनेसे झूठे हैं। इस शंकाका समाधान यह है कि जाग्रतावस्था जन्मसे मरण पर्यन्त एक ही रहती है और स्वप्नावस्था स्वप्नके आरम्भसे अन्त तक एक होती है। जिन्दगी भरकी स्थूल शरीरकी एक जाग्रतावस्थाके मध्यमें अनेक स्वप्न होते हैं, एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नका सम्बन्ध नहीं है और जाग्रत् तो शरीर और आयुसे संबंध वाली होनेसे एक ही है, इसलिये एक जाग्रत्के पदार्थ दूसरे तीसरे आदि जाग्रत्में बने रहते हैं। जैसे एक स्वप्नके पदार्थ दूसरे स्वप्नमें नहीं रहते इसी प्रकार जिन्दगी भरकी एक शरीरकी जाग्रत्के पदार्थ दूसरे शरीरकी जाग्रतावस्थामें नहीं रहते इसलिये जाग्रत्के पदार्थ स्वप्नके समान ही है। अनादि अविद्यामें बने हुए कर्म जो प्रारब्धरूप हुये हैं और जिनके भोगनेके लिये शरीर बना है, उनसे जाग्रतावस्था है और स्वप्नावस्था निद्रा दोष से है, निद्रा दोष होनेसे स्वप्न क्षणिक है और जाग्रत् अविद्या—प्रारब्धसे बने हुये स्थूल शरीरकी होनेसे कुछ स्थायी है। दोनोंमें इतना ही भेद है, नहीं

तो दोनों एक ही प्रकारकी हैं। स्वप्नावस्थामें जगत्का बोध नहीं होता परन्तु जिस शरीरकी जाग्रत् अवस्था होती है, उस शरीरके रहते हुए वह अवस्था जाती नहीं, स्वप्नके समयमें दब जाती है और स्वप्नावस्था तो सूक्ष्ममें होनेसे और निद्राका दोष होनेसे जाग्रतावस्थासे दबती नहीं है इसलिये प्रत्येक स्वप्न भिन्न २ होता है और एक शरीरमें भिन्न२ जाग्रत दीखती है तो भी एक ही है। निद्रा-दोषके नाश होनेसे जाग्रतावस्था स्वप्नका नाश करती है परन्तु स्वप्नावस्था तो निद्रादोषसे, अनादि अविद्याके प्रारब्धरूप कर्मभोग की जाग्रतावस्थाका नाश नहीं कर सकती, केवल भानरहित करती है। इसलिये किंचित् भेद होते हुये भी जाग्रत् और स्वप्न दोनों समान हैं, जैसे विषका एक बड़ा ढेला और एक रजकण दोनों ही विषरूप हैं, एक बड़ा है एक छोटा है, एक मृत्युको बुलाने वाला है, दूसरा नहीं, ऐसा होते हुए भी जैसे दोनों विष ही हैं, ऐसे ही दोनों अवस्थायें तुल्य हैं।

स्वप्नमें कारण कार्यका सम्बन्ध नहीं है और जाग्रत्में सम्बन्ध है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अपनी २ अव-स्थामें सम्बन्ध रहित कोई नहीं दीखती, यदि स्वप्नमें कार्य कारण रहितता मालूम होजाय तो स्वप्नका भंग होजाय इसी प्रकार जाग्रतमें भी कार्य कारणका कोई सम्बन्ध नहीं है, जब तक ऐसा मालूम होता है कि सम्बन्ध है तब तक जाग्रतावस्था है। वस्तुतः जाग्रतमें भी कार्य कारणका सम्बन्ध नहीं है, मात्र प्रतीति है। ऐसा मालूम होजाय तो अज्ञान निवृत्त होजाय, ज्ञानावस्था

आ जाय, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें कार्य कारणका असम्बन्ध भी तुल्य है। जो स्वप्नके समान जाग्रतवस्था को यथार्थ समझने लगता है, उसका अज्ञान तुरंत ही निवृत्त हो जाता है। जाग्रत्को स्वप्नके समान मिथ्या और तुच्छ समझनेके लिये स्वप्न-से अच्छा अन्य कोई दृष्टांत नहीं है। जगत्को सच्चा माननेवालोंको भी जगत्का परिवर्तन, क्षणिकपना और विकारीपना मानना ही पड़ता है, ऐसे तुच्छ जगत्में दृढ़ आसन बिछा कर अज्ञानकी घोर निद्रामें सोते रहनेवालेके सिवाय अकल्याणका हेतु अन्य कौन होगा, इसलिये आचार्यने 'कौन हूँ' 'तू कौन है' आदिकका विचार कराया है, सब स्थानोंमें भरे हुये परम तत्त्वका कहीं आना जाना नहीं हो सक्ता! 'मैं' का सच्चा स्वरूप भी वह ही परम तत्त्व निकलता है तब अज्ञान सिवाय अन्यमें आने जानेकी प्रतीति किस प्रकार हो? अज्ञानसे 'मैं तू' है, अज्ञानसे आना जाना है, अज्ञानकी निवृत्तिसे स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द तत्त्व ही शेष रहता है, जो सबका अपना आप है।

एक मनुष्य एक संतके पास जाया करता था और सत्संग भी किया करता था परन्तु वैराग्यादिकी न्यूनतासे उसको बोध नहीं होता था। सन्त बारम्बार जगत्को स्वप्नके समान कहा करते थे परन्तु उस मनुष्यकी समझमें नहीं आता था कि स्वप्नके समान जगत् किस प्रकार है। अन्य मनुष्योंके साथ स्वप्नके विषय-में वह सन्तसे कुछ पूछ नहीं सकता था। एक दिन ऐसे समयमें वह सन्तके पास आया कि उस समय संतके पास कोई न थ

और प्रणाम करके बैठ गया। सन्तने कहा "आज इस समय कैसे आया?" मनुष्यने कहा "महाराज! क्या कहूँ, मैं आपके वचनामृतका पान करता हूँ, उसमें कई शंकायें होती हैं, सबके सामने पूछनेकी हिम्मत नहीं पड़ती इसलिये बोल नहीं सकता। मुझे मुख्य शंका तो यह है कि आप बारम्बार संसारको स्वप्नके समान झूठा बताते हो, यह किस प्रकार हो सकता है? संसार स्वप्नके समान झूँठा है, यह बात मेरी समझमें नहीं बैठती।"

सन्तने कहा "संसार और स्वप्न की समानताको मैं बारम्बार समझा चुका हूँ, उसमें कोई शंका हो तो कह!" मनुष्यने कहा "विचारसे तो संसार और स्वप्नकी हालत एक सी ही सिद्ध होती है, ऐसा होते हुये भी स्वप्न झूठा और संसार सच्चा यह निश्चय क्यों नहीं हटता। विचार करनेसे तो संसार झूठा होता है परन्तु बर्तावके समयमें क्षण भरके लिये भी संसार झूठा नहीं होता, स्वप्नको तो हमेशा झूठा मानता हूँ?" सन्तने कहा "जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, जगत्के ऊपर वैराग्य नहीं होता, जगत्से थोड़ी देरके लिये भी हटा नहीं जाता तब तक विचार और शास्त्रसे मिथ्या सिद्ध होता हुआ जगत् मिथ्या प्रतीत नहीं होता! जगत् तुझको रमणीय दीखता है, अच्छा लगता है, अनेक प्रकारके भोगोंकी लालसा बनी हुई है!" मनुष्यने कहा "महाराज! मैं ही क्या, सब ही जगत्के ऐश्वर्य और सुखको चाहते हैं!" सन्तने कहा "तब ही जगत् तुझे तुच्छ मिथ्या नहीं भासता—दीखता! जब कभी तू मेलेमेंसे मिट्टीका खिलौना खरीद

कर अपने छोटे बच्चेको लाकर देता है तब लड़का खिलौनेका घोड़ा देख कर प्रसन्न होता है, यह घोड़ा बच्चेको प्रिय है, वह सच्चे घोड़ेसे भी खिलौनेके घोड़ेको विशेष पसंद करता है, यदि खिलौनेका घोड़ा टूट जाय तो दुखी होता है, इसका क्या कारण है ?" मनुष्य बोला "लड़कपनमें विशेष बुद्धि नहीं होती, लड़कोंको खेल पसंद होता है, खिलौनेके घोड़ेसे लड़के खेलते हैं, उन्हें वह सच्चे घोड़ेसे भी अधिक अच्छा लगता है, सच्चे झूठेका उन्हें बोध नहीं होता, अबोधके कारणसे ही ऐसा करते हैं !" सन्तने कहा "ठीक ! ऐसाही है ! तुझे जगत् सच्चा दीखनेका कारण भी वह ही अबोध है ! जैसे लड़का अबुद्ध होनेसे झूठे घोड़ेको सच्चा मान कर प्रेम करता है ऐसे ही अज्ञानी तू भी जगत्‌के पदार्थोंको सच्चा मानकर प्रेम करता है। सच्चा समझ कर ही भोगमें प्रसन्न होता है और किसी प्रकारकी हानि हो तो दुखी भी होता है !" मनुष्य बोला "महाराज ! लड़कोंको तो बोध नहीं होता, इसलिये वे ऐसा करते हैं, मुझे तो बोध है तो भी लड़कोंके समान क्यों बर्तता हूँ ?" संतने हंसकर कहा "वास्तविकमें तुझे बोध नहीं है, बोध रहित होने पर भी तू अपनेको बोधवाला मानता है, लड़का भी अपनेको अबोधवाला नहीं मानता, अबोधपनेमें तू और लड़का दोनों समान हैं । तू मिट्टीके बने हुये खिलौनेके घोड़ेके टूट जानेसे विशेष दुखी नहीं होता, क्योंकि तुझे घोड़ेकी आकृतिमें मिट्टीका ज्ञान है । इसी प्रकार सब पदार्थ परम तत्त्वरूप हैं, हमको सब पदार्थोंमें मायारूप आकृति दीखती है, उन आकृतियोंका होना,

विकारको प्राप्त होना और नाश होना हुआ करता है । इसलिये हम उन्हें झूंठी मानते हैं और जिस तत्त्वमें इन आकृतियोंकी प्रतीत होती है, उस तत्त्वमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं होता वह परम तत्त्व सत्य है और नाम रूपादि आकृतियां मिथ्या हैं, मिथ्या पदार्थों को सच्चा मानना दुःखका हेतु है । यदि मिथ्याका और सत्यका बोध हो जाय तो दुःख न हो । नामरूप संसार तुच्छ—मिथ्या—झूंठा है और उसका अधिष्ठान सच्चा है। जैसे स्वप्न झूंठा है परन्तु तू झूंठा नहीं है । स्वप्न तुझमें प्रतीत होता है, स्वप्नकी उत्पत्ति होती है, नाश होता है, तू ज्योंका त्यों बना रहता है इसी प्रकार नाम रूपात्मक संसार उत्पत्ति, विकार और नाश वाला होनेसे झूंठा है, जिसमें उसकी प्रतीति होती है, वह सच्चा है ।" मनुष्य बोला "आपका कथन समझनेमें आता है, बर्तावमें क्यों नहीं आता ?" संत बोले "तुझमें वैराग्य चाहिये, ऐसा न होनेसे तू बर्ताव करनेमें असमर्थ है, जब तुझे जगत् दुःख रूप भासे, चारों तरफसे अग्नि लग रही हो और अग्निके भीतर तू अपनेको जलता हुआ समझे तब ही उसमेंसे भागनेका प्रयत्न करेगा, जब भागेगा तब ही मेरा उपदेश तेरे हृदयमें टिकेगा । मलिन वस्त्रके ऊपर रंग नहीं चढ़ता, वस्त्रकी मलिनता रंगको भी मलिन कर देती है । निर्मल दर्पण बिना मुख स्पष्ट नहीं दीखता, तू विचार कर कि तू कौन है, शरीरके एक . २ अंगका विचार करता हुआ अपने तीनों शरीरोंसे और पंचकोशोंसे भिन्न सामान्य चेतन, सत्ता स्वरूप समझनेका बारम्बार प्रयत्न कर ! भाग त्याय

लक्षणासे सूक्ष्म दृष्टि द्वारा विचार करनेसे चेतन अविशिष्ट रहता है, उसमें और तुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है, अपने स्थूलको 'मैं' कहना, और दूसरेको 'तू' कहना, आना, जाना, माता, पिता सब कुछ व्यवहारिक हैं, स्वरूप का विचार करने पर परिणाममें उनमेंसे कोई भी नहीं है, व्यवहारिक दृष्टिसे भी जब सबके साथ का सम्बन्ध टूट जाता है तब कुछ भी काममें नहीं आता। इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहना चाहिये! स्वप्नमें अनेक प्रकारका वैभव देखनेमें आता है, माता, पिता आदिक सम्बन्धी देखनेमें आते हैं, उनके साथ व्यवहार करके सुख दुःखको भी प्राप्त होते हैं परन्तु जागते ही उनमेंका कोई भी नहीं रहता, केवल आप ही शेष रहता है इससे सिद्ध होता है कि तूने जो अनुभव किया था, वह स्वप्नमें था, इसी प्रकार यह जाग्रत व्यवहार उस स्वप्नकी अपेक्षासे एक बड़ा स्वप्न है, इस स्वप्नमें भी अनेक प्रकारके विषय और वैभव सत्य समान प्रतीत होते हैं, अनेक प्रकारके संबंध हो जाते हैं, जिनसे संसार चक्रमें भ्रमण करना पड़ता है। जैसे स्वप्नमें सब मिथ्या है, ऐसा जान नहीं सकते इसी प्रकार जाग्रत रूप महान् स्वप्नमें भी काम, कर्म और अविद्याके दबावसे मिथ्या पना जान नहीं सकते, विचारसे ही समझा जाता है। सुषुप्ति अवस्था जो अज्ञानकी मुख्य अवस्था है उसमें स्वप्न अथवा जाग्रतावस्थाका कोई भी व्यवहार नहीं रहता, वहां दोनों ही मिथ्या होजाते हैं इसलिये दोनों समान और मिथ्या हैं। यह सब सूक्ष्म और स्थूल संसार प्रकृतिमें भी नहीं है, मात्र विकृतिमें ही है तब

प्रकृतिसे परमें यह सब कहांसे हो? जैसे स्वप्नके सब मनोर्थ झूठे हैं ऐसे ही जगत्को भी समझ! सबको छोड़कर सबके एक अविचल, नित्य अधिष्ठानकी बुद्धि करनी चाहिये। सारका लक्ष पहुंचाकर, सब कुछ जो व्यक्तित्व वाला है, उसमें असार बुद्धि दृढ़ होनेसेही अज्ञानका दबाव शिथिल होता है और जैसे जैसे अज्ञान शिथिल होता जाता है वैसे वैसे स्वरूप प्रकाशित होता जाता है।

जाग्रतमें भी भूतकालकी बाल्यावस्थाका सब अनुभव स्वप्नके समान ही भासता है,वर्तमान व्यवहार भी कुछ समयके बाद तुच्छ, भास मात्र ही रहनेवाला है इसलिये प्रथमसे ही भास मात्र समझनेसे जगत्की आसक्ति निवृत्ति होती है क्योंकि संसारके विषय आदिक सब पदार्थ असत्य होते हुये भी मोहक और बन्धन करनेवाले हैं, जैसे अज्ञ ऐसे पतंगको दीपकका स्वरूप मृत्युका हेतु होता है ऐसे ही जगत्की रमणीकता जीवको बन्धन करने वाली है इसलिये असत्य जाननेसे ही आसक्ति छूटती है। आसक्ति छूटनेसे वस्तु स्वरूप सारके जाननेकी इच्छा होनेसे उस तरफ प्रवृत्ति होती है। जब जब जिस २ पदार्थ में सौन्दर्यता और गुण भासे, तब तब उसमें रही हुई असौन्दर्यता और दोषका दर्शन करना चाहिये। ऐसा करते रहनेसे सत्यताका भास तुच्छतामें बदल जाता है। तुझमें बुद्धिकी न्यूनता है इसलिये सत्कर्म उपासना आदिकका सत्कारसे सेवन कर बारम्बार विचार करके वैराग्यको अपनेमें भर! ऐसा करनेसे स्वप्नके समान ही जगत् है उसका और परम तत्त्वका बोध अवश्य होगा।"

जगत्को स्वप्नके समान कहनेवाले, झूंठा समझनेवाले, 'संसारमें सार कुछ नहीं है' ऐसा जाननेवालोंका संसारमें टोटा नहीं है परन्तु स्वप्नके समान जगत् का अखंडित अनुभव करने वाला विरला ही होता है। जब तक संसारके विषय और वैभव-की कीमत कम नहीं होती, तब तक आत्माकी तरफ की वृत्ति नहीं होती। जगत् स्वप्नके समान झूंठा होते हुयेभी जो अज्ञानमें फंसे हुये हैं, सत्यतासे वर्तते हैं, उनके लिये जगत्का कष्ट-बंधन मिथ्या नहीं है इसलिये उन दुःखोंकों को मिथ्या होजाने के लिये परम शांतिको प्राप्त करनेके लिये मिथ्या कहनेकी आवश्यकता है क्योंकि मिथ्या समझे बिना गोविन्दका भजन नहीं होता।

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः।
संसारोऽयमतीव विचित्रः॥
कस्यत्वं वा कुत आयात-
स्तत्वं चिन्तय तदिदं भ्रांतः ॥१५॥भ०

अर्थः—तेरी स्त्री कौन है, तेरा पुत्र कौन है, यह संसार अत्यन्त विचित्र है, तू किसका है और कहांसे आया है, हे भाई! तू मनमें इस तत्त्वका विचार कर। गोविन्द का भजन कर।

को तव पत्नी को तव सुत है।
यह संसार महा अद्भुत है॥
कहं से आया है तू किसका।
भाई तत्त्व विचारो इसका॥१४॥ भज०

संसारकी अत्यन्त अद्भुतताका विचार करने से अपने आत्म-स्वरूपका बोध होता है इसलिये संसारका और अपना विचार करनेको कहा है। व्यवहार में देखते हैं तो स्त्री पुत्रसे ही लोकमें संसार माना जाता है। जिसके स्त्री पुत्रादि न हों उसे संसारी नहीं मानते। संसार में-अज्ञानमें अपने से दूसरे दर्जे पर लोक में स्त्री पुत्र ही प्रिय होते हैं इसलिये स्त्री पुत्र आदिकको ही संसार मानते हैं। इस बातके विचार करनेको कहते हैं कि तेरी स्त्री कौन है? यदि तू कहे कि अमुक मेरी स्त्री है तो विचार कि तेरा यह सम्बन्ध कहांका है? यह तेरी स्त्री कब हुई और कबतक रहेगी? जब तूने अथवा तेरे माता पिता ने अमुककी लड़कीसे तेरा सम्बन्ध किया तबसे तू उसे अपनी स्त्री कहने लगा। तू देखता है कि ऐसे सम्बन्धसे की हुई बनाई हुई स्त्री कभी दूसरे-की भी हो जाती है, आज जो तेरी कहलाती है, कल दूसरे की कहलाने लगती है अथवा तू बना रहता है और तेरी मानी हुई स्त्रीका नाश होजाता है अथवा तू नहीं रहता और तेरी बनाई हुई बनी रहती है। तब निश्चय-पूर्वक यह तेरी स्त्री कहां है? तेरा माना हुआ स्त्रीका सम्बन्ध सच्चा है या झूठा? सच्चा तो कह नहीं सकते क्योंकि हमेशा बना नहीं रहता, झूठा तू कह नहीं सकता क्योंकि तू उससे संसार का व्यवहार चलाता है, तब सिद्ध होता है कि माने हुये सम्बन्धसे ही वह तेरी स्त्री है क्योंकि यदि तू असक्त हो जाय अथवा स्त्री वृद्ध होजाय अथवा दोनों-मेंसे कोई अथवा दोनों व्यवहार के योग्य न रहें तब स्त्री का

सम्बन्ध कहां रहता है ? और भी विचार कि जिसको तूने स्त्री मान रक्खा है, उसमें पूर्ण स्त्रीपना भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि जो तेरी स्त्री है, वह ही अपने पिता की लड़की है, पुत्र की माता है, सास श्वशुरकी वधू है, मामाकी भानजी है और ताऊ चाचाकी भतीजी है प्रत्येककी दृष्टि और मानताके अनुसार प्रत्येक की है। तेरी मानता ही स्त्रीमें स्त्री रूप होकर प्रतीत होती है, ऐसी स्त्री और स्त्रीका सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। तू अन्य भी अनेक स्त्रियां रख सकता है। जैसे इस स्त्रीका भाव तुझमें मानने मात्र ही है इसी प्रकार स्त्री करके समझी हुई गृहस्थी और संसार भी मानने मात्र झूंठा ही है, न तो स्त्रीको साथ लेकर आता है और न हमेशा साथ रख सकता है, न साथ ले जा सकता है, मानने मात्र ही है, इस प्रकार पुत्रादि सब कुटुम्बियों को समझ। यदि कहे कि स्त्रीसे तो बाहर का सम्बन्ध है किन्तु पुत्रसे तो शारीरिक-आंशिक सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक है परन्तु यह सम्बन्ध सच्चा नहीं है, प्रकट होनेवाले जीवने शरीर और अंशसे तेरा सहारा लिया है; वह अंश तू अथवा तेरा नहीं है, अंश माननेसे भी विशेषता ही क्या है ? तेरे मलिन तत्त्वके अंशसे उसके शरीर की उत्पत्ति हुई है, देख ! तेरे ही अंशसे-तेरे ही शरीरके अंशसे दूसरेके अंश बिना जुयें आदि उस पुत्रसे विशेष हैं; पुत्रके शरीरमें तो स्त्री पुरुष दोनोंका अंश होता है और जुयेंमें तो केवल तेराही अंश है। पुत्र पर तो विशेष प्रेम करता है और जुयेंको फेंक देता है अथवा मार डालता है! इससे सिद्ध होता है कि

स्त्रीके समान पुत्रमें पुत्रपना भी माना हुआ है। जो तू यह कहे कि जुआं तो काटनेवाला-दुःख देने वाला है इसलिये अंश होते हुये भी मैं उसे अपना अंश नहीं मानता तो तेरा पुत्रभी तो ऐसाही है, तुझे काटता और दुःख देताही है फिर भी तू अज्ञान से अन्ध होकर पुत्रके मोहमें फंसा रहता है। जिसे तू अपना पुत्र कहता है वह कितने वार तेरा पिता हुआ होगा, ऐसा तूने शास्त्रमें सुना होगा। कर्मके अनुसार सम्बन्ध होना और टूट जाना हुआ करता है, कभी तू वड़ा, कभी वह वड़ा, कभी वह तुझ पर सवार और कभी उस पर तू सवार, यह सब संसार की विचित्रता ही है। संसारका कोई भी एक नियम निश्चित नहीं है क्योंकि संसार कल्पनारूप है अज्ञानसे कल्पनामें दीखता हुआ स्थूल दृश्य है। जो आज तेरी स्त्री है, अन्य समयमें वहही तेरी माता और पुत्री है। इस प्रकार इस विचित्र संसारमें कोई पक्का नियम नहीं है। एक जिन्दगी में भी देखते हैं कि नोकर मालिक होजाता है और मालिक नोकर होजाता है, पुत्र पिताका आज्ञाकारी होता है और पिता पुत्रका आज्ञाकारी होता है, पुत्र पिताका नोकर होता है और पिता पुत्रका नोकर होता है।

विचार करनेसे संसारका अर्थ इस प्रकार होता है:—सुख दुःख, हर्ष शोक, राग द्वेष, जन्म मरण आदि द्वन्द्वोंको प्राप्त होने का नाम ही संसार है। अथवा मनका संसरना—चलना ही संसार है। संसारकी विचित्रता किसीसे जानी नहीं जाती नाम रूपात्मक दृश्य जो संसाररूप है, उसकी यह विचित्रता है

कि सब पदार्थों की उत्पत्ति नाश हुआ करता है तो भी कब उत्पन्न होता है, कब विकारको प्राप्त होता है और कब नाश को प्राप्त होता है, यह जाना नहीं जाता। संसार की स्थिति निरंतर और निश्चल देखनेमें नहीं आती। आकाशके रंगोंके समान क्षणक्षण में उठ उठ कर बैठ जाता है और फिर उत्पन्न होता है। इसका विचार करनेसे मन थक जाता है। ईश्वरके स्वरूपका पार हो तो इस संसारकी विचित्रताका पार हो, ऐसा उसका गम्भीर स्वरूप है, जो कुछ हम कान से सुनते हैं और आंखसे देखते हैं, उसमें सब प्रकारकी विचित्रता संसारके अंगोंमें समा जाती है। जैसे गन्धर्व नगरके विचित्र दृश्यसे अनेक प्रकारकी भ्रांति उत्पन्न होती है, ऐसे ही संसारके दृश्यसे भी भ्रांति उत्पन्न होती है। जो कुछ कहते, सुनते, देखते समझते हैं, सब संसारमें ही करते हैं, संसारसे भिन्न नहीं कर सकते। जैसे व्यापक ईश्वर में सबका समन्वय होता है इसी प्रकार सब नाम रूपादि दृश्यका भी संसार में ही समन्वय होता है। विचारसे दो प्रकारका संसार दीखता है, ईश्वरी प्रपंच—संसार और जीवकृत प्रपंच—संसार; जीवके प्रपंचसेही जन्म मरण आदि अनेक प्रकारका कष्ट प्राप्त होता है इसलिये जीवके लिये जीवका प्रपंचही संसार है। अथवा जन्म मरणादि दो दो भाव जिसमें हैं, वह ही संसार है। यदि दो भाव न हों तो संसार कहां है। जैसे आंख बन्द करने से कुछ भी नहीं है ऐसे ही जन्म मरणरूप द्वन्द्व बन्द होजाने से संसार नहीं है परन्तु इस प्रकार के द्वन्द्व-द्वैतका मिटना, कठिन है

क्योंकि सुख दुःख दोनोंमेंसे एकको ग्रहण करने से दूसरा उसके साथ आये विना नहीं रहता, एक आया, एक गया, एक गया, दूसरा आया, इस प्रकार चक्रकी निवृत्ति नहीं होती। संसारिक सुखको ग्रहण करते रहना और दुःख निवृत्तिका उपाय करना, यह धुयेंको पकड़नेके समान है। ऐसे प्रयत्नसे जीवके संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती। ईश्वरसृष्टि दृश्य रूप और जीवसृष्टि भावाभाव रूप है। किसी किसीका ऐसा कहना है कि जीवका संसार भी ईश्वरके संसारसे भिन्न नहीं है। यदि जीवका संसार ईश्वरके संसार से भिन्न हो तो उसका होना ही संभव नहीं है क्योंकि अधिष्ठानके बिना अध्यस्त हो नहीं सकता लकड़ी का ठूंठ खड़ा हो तब ही अन्धेरेमें 'यह भूत' है ऐसा भास होता है, जो लकड़ी का ठूंठ न हो तो भास न हो, ऐसे ही ईश्वर संसार का अधिष्ठान रूप है तब ही जीवका संसार है। ऐसा होते हुये भी ईश्वरकी सृष्टि ईश्वर अथवा जीव किसीको दुःखदायी नहीं है, जीवका संसार ही जीवको दुःखका हेतु है। ईश्वर सृष्टि के सहारे जीवसृष्टि होते हुये भी ईश्वर सृष्टि दोष रहित और जीव-सृष्टि दोष वाली है, यह कितनी विचित्रता है!

जिस प्रकार एक धागे में अनेक छोटे बड़े मणके पोये हुये हों इसी प्रकार विचार से देखते हैं तो इस संसार में छोटेसे बड़े तक तृणसे लेकर ब्रह्मा तक एक ही वस्तु के नाम रूप और समत्व भिन्न भिन्न प्रकार के देखनेमें आते हैं। प्रारब्ध और अन्तकरणसे ही संसारका होना मान लेने से ईश्वरी संसारको बीच में गिन

नहीं सकते। वासनाके नाशसे संसारका नाश हो जाता है और ईश्वर संसारका नाश नहीं होता। जिस जीवकी वासना निवृत्त होती है उसके संसारका ही नाश होता है इसलिये जीवको स्वस्वरूपका अबोध—अज्ञान—भ्रांति—वासना—व्यक्तिभाव—अहंभाव ही जीवका संसार है। श्रीरामचन्द्रने ऐसा कहा है:—

"विषयोंकी रचनासे वनके मृगके समान मोहयुक्त हम दैव आदि के हाथ बिक चुके हों, ऐसे होरहे हैं। नीच काम करनेवाला और अपना ही पेट भरनेमें कुशल काल नामका धूर्त जगत्‌में सब लोगोंको हमेशा आपत्तिके समुद्रमें पटका करता है। जैसे अग्नि उष्ण प्रकाश वाली लौ से भीतर और बाहर जलाता है ऐसे ही काल भी उग्र चेष्टासे लोगोंको दुष्ट आशासे भीतर और बाहर जलाया करता है। इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्तिरूप नीति जो कालकी स्त्री है, वह स्त्री होनेसे चंचल स्वभाववाली है और जितेन्द्रिय पुरुषोंको भी भ्रमानेवाली है। वह धीरजको रहने नहीं देती। कठोर कार्य करनेवाला काल युवा शरीरको वृद्ध बना देता है। जैसे सर्प वायुको खाता है वैसे ही काल प्राणियोंको खाता है। यमराज दया रहित पुरुषके समान दण्ड देनेवालोंमें शिरोमणि है। वह किसी पर दया नहीं करता। सब प्राणियों पर उदारतासे बर्तनेवाला मनुष्य दुर्लभ है! प्राणियोंकी सब जाति तुच्छ शक्तिवाली है, विषयोंके स्थान भयंकर हैं, आयुष्य अत्यन्त चंचल है, मृत्यु बहुत क्रूर है, युवावस्था अति वेगसे चली जाती है, बाल्यावस्था मोहमें व्यतीत होती है। लोग विषयोंकी चिन्तासे

घिरे हुये हैं। संसारके सम्बन्धी बंधनरूप हैं। भोग संसारमें रोगके समान हैं, तृष्णा मरुजलके समान है। इन्द्रियां शत्रुता करती हैं, परमार्थ नहीं के समान हो गया है। जिसका मन ही शत्रु है, ऐसा आत्मा मनके अभिमानसे मनरूप हो कर आप ही अपनेको दुखी करता है, अहंकार स्वस्वरूपको दुखी करता है बुद्धि स्वरूपकी निष्ठारूप दृढ़तासे रहित है, क्रियायें दुष्ट फलको दिया करती हैं, मनकी दौड़ स्त्रियोंकी तरफ हुआ करती है, विषयोंकी इच्छायें हुआ करती हैं। आत्माका प्रकाश जाननेमें नहीं आता, स्त्रियां दीपकी सेन्याके समान हैं। शास्त्र पर प्रेम नहीं रहा, सतका असत् समझते हैं, चित्त अहंकारमें लगा हुआ है, पदार्थ विनाशी और परिणाम वाले हैं, आत्मस्वरूप जाननेमें नहीं आता, व्याकुलताको प्राप्त हुई बुद्धि तपा करती है, विषयीके ऊपर रागरूप रोग बढ़ता रहता है, वैराग्य प्राप्त नहीं होता, सद्-विचार रजोगुणसे मारा गया है, मोह बढ़ता जाता है, सत्य वस्तु अत्यन्त दूर हो रही है, जीवन अस्थिर है, मृत्यु सामने खड़ी है, बुद्धि मंद और मलिन हो गई है, शरीरका अवश्य नाश होनेवाला है, देहमें जरावस्था जबरन घुसी जाती है, पापकर्ममें चित्त लगा रहता है, सज्जनोंका समागम नहीं होता, किसी लोकका सुख भी अविचल देखनेमें नहीं आता, परमानन्द प्राप्त नहीं होता, भीतर ही भीतर मन घबराया करता है, दूसरेका भला होता हुआ देख कर खुशी होना तो दूर रहा, निर्मल करुणा उदय नहीं होती, नीचता समीप चली आती है, धीरज चला जा रहा है,

दुर्जनोंका समागम हुआ करता है, सब पदार्थ आने जानेवाले हैं, वासना संसारमें बांधती है, सच्चा उपदेश देखनेमें नहीं आता, सच्ची बातोंका स्थान ही नहीं है, पर्वत भी टूट जाता है, आकाशका भी लय होता है, भुवनोंका नाश हो जाता है, पृथिवीका जलमें लय होता है, समुद्र सूख जाते हैं, तारे टूटते हैं, सिद्ध लोगोंका भी नाश होता है, दानव नष्ट हो जाते हैं, ध्रुवका जीवन भी अध्रुव है, देवता भी मारे जाते हैं, इन्द्र भी कालके मुखका ग्रास बन जाता है, यम कालके झपेटेमें आ जाता है, वायु सत्ता रहित हो जाता है, चन्द्र शून्य हो जाता है, सूर्य भी खंडित हो जाता है, अग्निका अभाव होता है, ब्रह्मा भी समाप्त होता है, अजन्मा ऐसा विष्णु भी हरा जाता है, रुद्रकी रौद्रता नहीं रहती, कालका भी लय होता है, फूलकी आय चली जाती है, अनन्त ऐसा आकाश भी छयको प्राप्त होता है, जिसका स्थूलरूप जाननेमें नहीं आता, और सूक्ष्मरूप भी सुन कर, बोल कर कोई जान नहीं सकता, ऐसा कोई पुरुष अपने स्वरूपमें ही मायासे ब्रह्मांडको दिखाता है, अभिमानके अंशको प्राप्त होकर रहे हुये सब भूतोंके भीतर रहनेवाले इस पुरुषसे जो बाधाको प्राप्त नहीं होता हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। रथमें बैठे हुये पुरुषसे प्रेरित हो कर जैसे रथ चलता है इसी तरह यह पुरुष ही सूर्यको शिला; पर्वत, शिखरादिक प्रदेशोंमें, जंगलके गोल पत्थरके समान हमेशा लुढ़काया करता है। जिसमें देव और दैत्योंका समूह रहा हुआ है; ऐसे भूगोलको उस पुरुषने ही पके हुये अखरोटके छिलकेके समान

ज्योतिष चक्रसे चारों तरफसे लपेट लिया है। स्वर्गमें कल्पित देवताओंको, पृथिवीमें कल्पित मनुष्योंको और पातालमें कल्पित सर्पोंको यह पुरुष एक संकल्पसे ही जर्जरित कर देता है।"

इस प्रकार संसारकी दुर्दशा पर विचार करनेसे और उसकी उत्पत्ति स्थितिका विचार करनेसे संसारकी विचित्रता प्रत्यक्ष जाननेमें आती है, मोहको प्राप्त हुये लोग जान नहीं सकते कि संसार अमृतमय है या विषमय है, बहुतसे बुद्धिमान् मनुष्य भी निश्चयसे कह नहीं सकते कि यह संसार सच्चा है या झूठा! स्थावर जंगम प्राणियोंकी उत्पत्ति, उनके शरीरोंकी रचना, उनका भिन्न २ स्वभाव, उपयोग, वृद्धि आदिक देखकर विचारते हैं तो पैर पैर पर विचित्रता मालूम होती है। जहां जल है, वहां स्थल हो जाता है, जहां स्थल है वहां जल हो जाता है। तेज और वायुके परस्पर योगसे अथवा अन्य तत्त्वोंके परस्पर मिलनेसे भारी रसायनका प्रयोग जल पृथिवी और आकाशमें हुआ करता है। जिस स्थान पर जो न चाहिये वह होता है और जहां चाहिये वहां नहीं होता। कहीं कहीं पहाड़, पानी, वनस्पति, ग्रह आदिकी व्यवस्था ठीक ठीक हो रही हो, ऐसा दीखता है। आदि स्वरूपको लेकर सब पदार्थोंका वर्णन किया जाय तो आयुष्य पूर्ण होने पर पूर्ण वर्णन न हो सके। खसखसके समान वट वृक्षके बीचमेंसे हजारों मनुष्य विश्रांति ले सकें इतना बड़ा वटका वृक्ष हो जाता है। इसी प्रकार स्थावर जंगमकी उत्पत्ति आदि अद्भुत रीतिसे हुआ करती है, जो मन और बुद्धिकी कल्पनासे बाहर है।

एक समय एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे कुछ बात चीत कर रहा था। तीसरा मनुष्य उनकी बातें सुन रहा था। प्रथम मनुष्यने दूसरे मनुष्यसे कहा "मित्र! तू अपने मन से ही बुद्धिमान् बनता है परन्तु तुझे अपना होश भी तो है नहीं, बोल, तू कौन है? कहांसे आया है? तेरा लौकिक उत्तर यहां नहीं चल सकता! बुद्धिशाली वह ही पुरुष हो सकता है, जो सूक्ष्म विचार पूर्वक अपने और अपने आनेका निश्चय कर लेता है। 'मैं अमुक नाम वाला हूँ, मैं अमुक स्थानसे आया हूँ' यह मेरे प्रश्नका उत्तर नहीं है!" दूसरे मनुष्य ने उलट सुलट कर इस प्रश्नके कई उत्तर दिये परन्तु प्रथम मनुष्यने उन सब उत्तरोंको प्रमाणपूर्वक झूठा सिद्ध कर दिया। तीसरा मनुष्य जो किसी जरूरी कार्यके लिये जा रहा था, इस स्थान पर अधिक न टिक सका, मार्ग चलते हुये वह इन दोनों प्रश्नोंको अपने आपसे पूछता जाता था और जैसा सूझता था ऐसा उत्तर भी देता जाता था परन्तु उन उत्तरोंसे उसका समाधान नहीं होता था। एक उत्तरको मिथ्या कहकर वह दूसरा उत्तर देता था, फिर उसे भी मिथ्या मानकर तीसरा उत्तर देता था, इस प्रकार वह घंटे भर चलते चलते प्रश्नोत्तर करने पर भी कुछ निर्णय न कर सका। तब उसने निश्चय किया कि अमुक महात्मा निपुण हैं, उनके पास जाकर मैं इन प्रश्नोंका सच्चा उत्तर प्राप्त करूंगा। दो दिन तक वह सन्तके पास जाने न पाया। उसके चित्तमें प्रश्नोंने खलबली मचा रक्खी थी; तीसरे दिन वह दोपहर पीछे सन्तके पास पहुंचा, प्रणाम करके बैठ गया और

नम्रता पूर्वक बोला "महाराज! मेरी एक प्रार्थना है, मुझे आपसे पूछनेमें लज्जा लगती है, परन्तु शंकारूप सर्पसे डसा हुआ मैं आपसे पूछे बिना नहीं रह सकता। तीन दिन हुये मैंने एक मनुष्यसे पूछते हुये सुना था कि तू कौन है और कहांसे आया है। उसने कई उत्तर दिये परन्तु प्रश्न करनेवालेने सबको काट दिया। मैं भी अपने दिलमें 'मैं कौन हूँ, कहांसे आया हूं' इस बारेमें बहुत प्रश्नोत्तर कर चुका हूँ परन्तु मेरा समाधान नहीं हुआ, मैं आपसे पूछता हूँ कि मैं कौन हूँ और कहांसे आया हूँ" सन्त हंसते हुये बोले "प्रश्न खूब लाया है, तू कौन है और कहांसे आया है, इसकी तुझे खबर हो या मुझे? जगत्‌में तू बहुत स्याना बनता है, जगत् का सब व्यवहार करता है, यह सब करते हुये तुझे खबर नहीं है कि तू कौन है? बड़ा आश्चर्य है! अपना तो पता नहीं, खबर ही नहीं और संसारका सब व्यवहार तो करता ही है।" मनुष्य बोला "महाराज! आपका कहना सत्य है, व्यवहारिक नाम ठाम, शरीरका आना जाना, यह सब जानता हूं, जब बारीकीसे विचार करता हूँ, तो उनमेंसे किसीमें 'मैं' होना सिद्ध नहीं होता! मेरी बुद्धि जगत् भरका विचार कर डालती है परन्तु 'मैं कौन हूं' इस विचारमें कुण्ठित होजाती है इसलिये मैं आपसे पूछने आया हूँ, जो मैं ऐसा कहूँ कि रामचन्द्र हूं तो मुझमें रामचन्द्रपना सिद्ध नहीं होता क्योंकि रामचन्द्र शरीरका नाम है, जो मैं कहूं, कि यह शरीर ही मैं हूं तो भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि शरीरको तो मैं अपना कहता हूं, इसी प्रकार इन्द्रिय मैं हूँ, प्राण मैं हूँ, बुद्धि मैं हूँ,

इत्यादि जिस जिसमें मैंपना सिद्ध करने जाता हूँ, किसीमें मैंपना सिद्ध नहीं होता। बड़ा आश्चर्य है कि मैं अपनेको नहीं जानता। इसी प्रकार यह भी सिद्ध नहीं होता कि मैं कहांसे आया हूँ। शरीर माता पिताका अंश है, माता पिताके सम्बन्धसे शरीरकी उत्पत्ति है, न कि मेरी, तब मेरा आना कहांसे हुआ ? 'मैं कौन हूँ' यह सिद्ध होतो मेरा आना भी सिद्ध हो। सब प्रकारसे विचारते हुये जब कुछ नहीं सूझता तब यह भी विचार होता है कि मैं होऊंगा ही नहीं, होता तो मालूम होजाता, मेरी बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं करती क्योंकि मैं स्वयं तो कह ही रहा हूं फिर मैं नहीं हूं,ऐसा कहना कैसे बन सक्ता है ? इस शंकाने मुझे दीन किया है बड़ा अन्धेर है कि मैं सबका जानने वाला हूं परंतु अपने को नहीं जानता, यह क्या आश्चर्य है ? क्या मैं ही इस प्रकार नहीं जानता या सबका यह ही हाल है। क्या यह सब संसार अन्धेरेमें ही एक दूसरे से ठोकरें खाया करता है ? सब व्यवहार की क्रिया और शास्त्रकी क्रियाकी सिद्धि करने वाला मैं कौन हूं ? आप मुझ पर दया कीजिये !"

सन्तने कहा "भाविक ! तू बुद्धिवाला है, इसमें संदेह नहीं है परन्तु तेरी बुद्धि भोथरी है, मुझे मेरी खबर है, तेरी तू जाने, इतनाही तेरे प्रश्नका उत्तर है परन्तु जब तू प्रार्थना करता है तो कहे विना चल नहीं सकता, कहना ही पड़ता है, तेरा यह प्रश्न बड़े महत्वका है, यदि तुझे संसार और संसार के भोग-ऐश्वर्यकी लालसा बनी हो तो मुझसे मत पूछ क्योंकि इस प्रश्नके उत्तरके

साथ तेरी मानी हुई संसारकी रमणीकता चली जायगी! संसारकी रमणीकता, भोगोंकी विशेष इच्छा तब तक ही टिकती है जब तक यह जाना नहीं जाता कि मैं कौन हूं, जादूके रुपये पर तब तकही प्रेम रहता है जब तक यह जाना नहीं जाता कियह झूंठा है, जादूका है! बोल! क्या तू जगत्से दुखी हुआ है? क्या जगत्के भोग हमेशाके लिये तुझे अप्रिय हुये हैं?" मनुष्यने हाथ जोड़कर कहा "महाराज! आप जिस प्रकार जगत्के प्रेमको छूट जानेको कहते हो ऐसा जगत्की तरफसे मेरा प्रेम छूटा नहीं है तो भी मुझे निश्चय है कि जगत् विचित्र है और दुःखदायक है यदि ऐसे जगत्की प्रियता टूट जाय तो हानि ही क्या? कुछ भी हो, मैं सब सहन कर लूंगा, मुझे अपना पता लगाना चाहिये!" सन्तने कहा "तब सावधान होकर सुन और इस प्रश्नोत्तर को हृदयमें धारण करके संसार समुद्रसे पार होजा! यह सब संसार अज्ञानका कार्य है, तूने अज्ञान के साथ अपनी एकता कर रक्खी है इसलिये अज्ञान ही तेरा स्वरूप होरहा है। अज्ञान अज्ञानके पदार्थोंको ही जाननेको समर्थ होता है तेरा वास्तविक स्वरूप ज्ञान स्वरूप है। अज्ञानसे युक्त हुआ तू अपनी अज्ञान युक्त बुद्धि से उस ज्ञान स्वरूपको किस प्रकार जाने? बुद्धि उसे जाननेको असमर्थ है, सब संसार अज्ञानका है और अज्ञानसे भरा हुआ है। इस सब प्रतीतिका अधिष्ठान तेरा मेरा और ब्रह्मांड भरका वास्तविक स्वरूप परब्रह्म है। मैं, तू और वह आदिक जितना व्यक्तित्व तुझे दृष्टिगोचर होरहा है, सब मायाका है सबका वास्त-

विक आत्मस्वरूप अव्यक्त है, विकारसे रहित है, मेरा तेरा आदिकसे रहित है, आने जानेसे रहित है, ऐसा होते हुये भी मायाके प्रभावसे उलट गया है, उलटा प्रतीत होता है, तू अजर अमर और व्यापक है। तूने अपनेको एक छोटेसे शरीरमें जो मान रक्खा है, ऐसा तू नहीं है। तू एक आत्मरूपसे सब शरीरोंमें विराजमान है। एक शरीर तू नहीं है, एक शरीर तेरा नहीं है, तू सब शरीरोंका प्रकाशक है, सब शरीर तेरी सत्तासे ही प्रकाशित होते हैं। एक शरीरकी हदमें वृत्ति रोक रखनेसे व्यक्तित्वकी प्रतीति होती है। इस सब मायाके कार्य–मायाके परदेमेंसे तू अपने स्वरूप को जानना चाहे तो किस प्रकार जाना जाय ? तेरा जन्म मरण नहीं है, शरीर नहीं है, कर्म, धर्म और अल्प ज्ञातादि गुण भी तुझमें नहीं है, इस प्रकारका साक्षी जो श्रुति वाक्यसे परब्रह्म स्वरूप है, वह ही वास्तविक तू है। मैं और तू शब्दोंका भी मैं तेरे समझानेके निमित्त उपयोग करता हूं। अनिर्वचनीय मायाके फंदेमें फंसा हुआ प्रत्येक प्राणी अज्ञानसे अपने व्यक्तित्वके निश्चय में टिककर और बंधनमें पड़कर सुखी दुखी होता है। तेरा स्वरूप मन वुद्धि और इन्द्रियोंका विषय नहीं है इसलिये मन, बुद्धि और इन्द्रियां उसको जान नहीं सकतीं। जब तू मायाके दवावसे हटे तब आत्म भाववाली वुद्धिसे ही कुछ जान सकता है। तेरे प्रश्नका उत्तर यह है कि तू सच्चिदानंद स्वरूप, अनंत, अविकारी, अक्रिय, सबसे परम, सत्य और व्यापक है। तू सब स्थानोंमें परिपूर्ण है। इसलिये कहींसे आ नहीं सकता और न कहीं जा सकता है।

अज्ञान ही आता जाता रहता है। अज्ञानने तुझे दीन किया है। अज्ञानके परदेको छोड़कर अपने स्वरूपमें अपने भावको स्थिर कर, अब भी तुझमें विकार नहीं है, तू अपनेको मायामें मानता है इसलिये मायाके सब विकार तुझे अपनेमें प्रतीत होते हैं। मायामेंभी विकार नहीं है, मायामें तेरी दृष्टि मायाके विकारोंकी उत्पत्तिका कारण है। जैसे घोड़ा अपने सब रूओंको झाड़कर स्वस्थ होता है, इसी प्रकार मायाकी धूलको झाड़ कर अपनी स्वरूप निष्ठामें आ। केवल तू ही नहीं, जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता, कोई भी अपने स्वरूपको जान नहीं सकता और अनादि अज्ञान और अज्ञानके किये हुये कष्टोंसे निवृत्त नहीं हो सकता। जो तुझे अपने को जाननेकी इच्छा हो तो अपने स्वरूपका बारम्बार चिंतवन कर, 'तू कौन है और कहांसे आया है' इस प्रश्नका उत्तर तुझको संसाररूप समुद्रमें से पार करने के लिये नौकारूप होगा। यह बारम्बार विचार, सत्संग कर और सत् शास्त्रोंका पठन करके अपने निश्चयको दृढ़कर।

सुरतटनी तरु मूल निवासः।
शय्या भूतलमजिनं वासः॥
सर्वपरिग्रह भोग त्यागः।
कस्य सुखं न करोति विरागः॥१६॥ भ०

अर्थः—गंगा किनारेके वृक्षकी मूलमें निवास करना, भूमिका बिस्तर, मृगचर्म वस्त्र, सब परिग्रह और भोगका त्याग, ऐसा

वैराग्य किसको सुख नहीं देता यानी सबको सुख देता है इसलिये गोविन्दका भजन कर।

> सुरसरि तरुकी जड़में पड़ना ।
> शय्या भू मृगचर्म पहरना ॥
> भोग तजे कुछ भी नाहिं लेवे ।
> किसे विराग नहीं सुख देवे ॥ १६ ॥ भज०

जिस प्रकार खुली हुई हथेली स्पष्ट प्रतीत होती है इसी प्रकार यह "चर्पट पंजरिका" स्पष्ट उपदेश देती है। इसका अन्तिम पद यह है कि वैराग्य किसको सुख नहीं देता यानी सबको सुख देता है। सब दुनिया सुखकी खोजमें प्रवर्त्त हो रही है, खोजने वालेको अनन्त काल व्यतीत होगया है तो भी संसारमें सुख नहीं मिला। जिसको सच्चे सुखकी इच्छा है, उसको बताया जाता है कि यदि कोई सुख करनेवाला है तो वह वैराग्य ही है, सिवाय वैराग्य के सुख किसीमें नहीं है, वैराग्यसे ही सुख मिलता है। वैराग्य रहित सुखकी चाहना और प्रयत्न मरुजल से प्यास बुझानेका यत्न है। ग्रहणमें दुःख है और त्यागमें सुख है। व्यवहारमें भी शुद्ध बुद्धिसे विचार कर देखा जाय तो ग्रहणमें कष्ट ही मालूम होगा और त्यागमें सुख अवश्य प्रतीत होगा। जो कामनाओं से अन्ध और बुद्धिसे भ्रष्ट हुये हैं, ऐसोंसे त्याग नहीं हो सकता। वे त्यागके रहस्यको भी समझ नहीं सकते। उन लोगोंको पापोंका बहुत सा फल भोगना शेष होने से त्यागकी तरफ उनकी वृत्ति

नहीं जाती परन्तु वास्तविक सुख तो त्यागसे और त्यागमें ही है। अन्तःकरण शुद्ध हुये बिना त्याग नहीं हो सकता इसलिये त्यागमें मददरूप और निर्मलता को देनेवाली गंगाजीके किनारेके वासको कहते हैं।

सब नदियोंमें श्रेष्ठ विभूतिरूप गंगा नदी है। जिस निर्मल पवित्र देशमेंसे उसका वहन हुआ है, वह कैलाश कहा जाता है। ऐसे पवित्र स्थलमें से जिसकी उत्पत्ति है, वह गंगा भी पवित्र है और दूसरोंको भी पवित्र करने वाली है। पुराणों में गंगाजी की उत्पत्ति विष्णुके चरण कमल और शंकरकी जटामें से कही है। विष्णुके चरणका जल विष्णुका चरणोदक है। विष्णुका भाव—सामर्थ्य विष्णुके चरणोदकमें है और शंकरकी जटा जो पवित्र है उसके संगसे पवित्र हुई गंगा लोगोंको पावन करनेके लिये भूमि पर बहती है। भगीरथ राजाकी महान् तपश्चर्याका प्रभाव भी गंगामें मिला हुआ है इसलिये गंगा असंख्य गुणवाली है। उसका माहात्म्य पुराणादिकों में बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है। ऐसी देव गंगा बहती हुई अपने दोनों किनारों की भूमिको पवित्र करती रहती है। जैसी गंगाजी पवित्र हैं ऐसे ही गंगाका तट भी पवित्र है इसीसे बहुतसे तीर्थ गंगा तट पर आये हुये हैं। पवित्र ऐसी गंगाजी के किनारे आये हुये वृक्ष भी पवित्र होते हैं क्योंकि पवित्र किनारे पर उनकी उत्पत्ति है और गंगाजल से ही उनका पोषण और उनकी वृद्धि होती है। ऐसे पवित्र वृक्षकी जड़ विशेष पवित्र है क्योंकि गंगा जलका सीधा ही पान करती

है। वे वृक्ष गंगा जलके पानसे पवित्र महात्माओंके समान अमर समान ही हैं, बहुत प्राचीन हो जानेसे उनकी जड़ोंमें कोतर पड़ जाते हैं और पेड़के मध्यमें कुदरती गुफा बन जाती है, वहां वृक्षके मूल भी होते हैं, ऐसी मूलोंमें जिसका वास है, वह त्यागी मनुष्य भी पवित्र वृक्ष, मूल, किनारा और गंगाजल आदिके संगसे पवित्र हो जाता है; वहां रहनेसे तपस्वी, ऋषि और ज्ञानी बन जाता है। यह सत्संगका प्रभाव है। वहां एकांतमें रह कर भजन करने वालेको भूमि ही शय्या होती है। वहांका निवास संत समागमके समान है। ऐसे स्थान पर वस्त्रोंके बदले निर्दोष शाकहारी ऐसे मृगका चर्म ही वस्त्र होता है। मृग चर्म में सामान्य वस्त्रसे विशेष प्रभाव है इसलिये उसको पवित्र समझ कर भजन पूजा आदिकमें आसनके स्थानमें उससे काम लिया जाता है। ऐसे सब अनुकूल प्रसंगोंमें वैराग्य दृढ़ होता है। वहां भोगका अभाव होनेसे शेष रही हुई भोगकी इच्छा भी निवृत्त हो जाती है। ऊपर बताई हुई वैराग्यकी बाह्य सामग्रीके साथ भोगकी इच्छा भी न हो और किसी भौतिक पदार्थका ग्रहण भी न करे, यह सूक्ष्म वैराग्यकी सामग्री है। दोनों प्रकारकी वैराग्यकी सामग्रीसे जो वैराग्यवान् है, उसे वहां स्वाभाविक ही सुख है। ऐसे वैराग्य वाला मनुष्य चाहे जैसा भी हो सुखी ही रहता है। वहांके स्वाभाविक सुखके साथ ईश्वर चिन्तवन, प्रभु प्रेम और आत्मज्ञान सुलभतासे प्राप्त होता है। जो स्वाभाविक सुखको लेता हुआ वैराग्यसे अन्तःकरण

निर्मल कर देता है, वह स्वरूपका बोध प्राप्त करके अखण्ड स्वरूप ही बन जाता है। वैराग्यकी जितनी महिमा कथन की जाय उतनी थोड़ी है।

बिना वैराग्य बुद्धिकी तीव्रतासे अथवा तर्क करके जो आत्म ज्ञानको प्राप्त करना चाहता है, उसके समान अन्य कोई मूर्ख नहीं है। बिना वैराग्य घर बैठे बैठे भोग भोगते हुये, आसक्तिको न छोड़ते हुये आत्म बोध हो जाता होता तो अनेक ऋषि मुनि और राजा लोग, सब वैभवमें लात मार कर जंगलका कष्ट क्यों भोगते, क्या ऐसा भोग तुमको ही प्रिय है? क्या उनको प्रिय न था? क्या ऐसा तुमको ही अच्छा लगता है? क्या उनको बुरा लगता था? क्या तुम्हारे समान भी वे बुद्धिमान् और सामर्थ्यवान् न थे? तुम घरमें बैठकर ही ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ होना चाहते हो, उन्होंने घर बार छोड़कर एकान्त वनमें जा वास किया, क्या वे मूर्ख थे? सब जीवोंको भोग प्रिय ही लगता है। तुमको प्रिय लगता हो और उनको प्रिय न लगता हो, ऐसा नहीं है। उन लोगोंकी दृष्टि परिणामके ऊपर थी, तुम्हारी केवल भोगके ऊपर है! भोग प्रिय होते हुये भी दुःखदायक है। भोग करके दुःखकी निवृत्ति नहीं होती और न कभी कल्याणकी प्राप्ति होती है। प्रिय होने पर भी छोड़े बिना कार्यकी सिद्धि नहीं होती, ऐसा देखकर ही वे लोग सब भोगोंको त्यागकर आत्म चिन्तवनमें लगे थे। आजकल यदि किसीको वैराग्यके लिये कहा जाय तो तुरत ही उत्तर मिलता है:—"वाह! क्या घरमें बैठे

भजन नहीं होता ? क्या गृहस्थीमें रहते हुये कल्याण नहीं होगा ? जनकादि कितने ही राजा, ऋषि, गृहस्थीमें रहते हुये ही परमपदको प्राप्त हुये हैं। गृहस्थी ही सबसे बड़ा आश्रम है !" इस प्रकार अपनेको जनकके साथ बैठानेको तैयार हो जाते हैं। कहां जनक और कहां तुम ! कहां राजा भोज और कहां गंगा तेली ! यदि सबको ऐसा ही ज्ञान हो जाता हो तो शास्त्रकारोंका तीसरा चौथा आश्रम बनाना ही व्यर्थ था ! पुराने जमानेमें एक जनक हो गया है, आजकल तो घर घरमें ही जनक हैं, सब घर बैठे ही ज्ञान चाहते हैं, बाहर निकलना कोई नहीं चाहता, कोई एक संस्कारी निकल आवे तो वह अपवादरूप है। कुछ भी करो, बिना वैराग्य कल्याण किसी प्रकार नहीं हो सकता। रागसे जगत् है, वैराग्यसे जगत् निवृत्त होता है। रागमें दुःख है, वैराग्यमें दुःखका अभाव है। वैराग्य दो प्रकारका है, आंतर और बाह्य। आंतर रहित बाहरका वैराग्य सफल नहीं होता। फलका दाता आंतर वैराग्य ही है, इससे ऐसा न समझना चाहिये कि बाहरका वैराग्य व्यर्थ है। आंतर वैराग्य कठिन है, सबको बाह्य वैराग्य बिना आंतर वैराग्य नहीं हो सकता और युक्तिपूर्वक किया हुआ बाह्य वैराग्य तो आंतर त्यागमें मददरूप होता है। ऊपरके पदमें बाह्य और आंतर दोनों वैराग्य समझने चाहिये, यदि बाहरका वैराग्य शुद्ध हो और आंतर वैराग्य न हो तो दूसरे जन्मोंमें बाहरका वैराग्य आंतर वैराग्यको उत्पन्न करनेवाला होता है। बाहरका वैराग्य भी न होते हुये केवल ढोंग ही हो तब तो

ऐहिक और पारलौकिक हानि ही होती है। छल कपटसे अशुभ फलकी ही प्राप्ति होती है, शुभ फल होना संभव ही नहीं है।

परिग्रह त्याग और भोग त्याग ये दो वैराग्यके अंग हैं। परिग्रह त्याग स्थूल है, और भोग—लालसा सूक्ष्म है। परिग्रह पदार्थोंका होनेसे स्थूल है और भोगका भान—सुख मानसिक होनेसे सूक्ष्म है! देश, काल, वय और योग्यताके साथ उपयोगके लिये जिन जिन वस्तुओंका ग्रहण करना है, वह परिग्रह कहलाता है और चारों तरफसे पकड़ना परिग्रह है। चाहे बदला देकर ले, चाहे बदला न देकर ले वह परिग्रह है। पदार्थोंकी सूक्ष्म इच्छा भोग है। दान लेना भी परिग्रह कहलाता है परन्तु परिग्रहका यह अर्थ संकुचित है। परिग्रह ग्रहणरूप होनेसे दुःख और बंधनका हेतु है। ग्रहण त्यागका विरुद्ध शब्द है इसलिए सब परिग्रहका त्याग ही वैराग्य होता है, परिग्रह सिवाय और कोई बंधन नहीं है। दान देना सुलभ है, लेना कठिन है, लोग इसका उलटा अर्थ करते हैं, यानी दान लेना सुलभ समझते हैं और देना कठिन समझते हैं। दान देनेवाला देकर अपना हित करता है, देकर प्रसन्न होता है, इससे विरुद्ध योग्यता रहित दान लेने वाला अपना अहित करता है, अपने शिर बोझा चढ़ाता है, योग्यता सहित दान लेनेवाला हो तो भी परिग्रहकी निवृत्तिके अर्थ उसको अवश्य कार्य करना पड़ता है और दानका मांगना तो बहुत बुरा है। 'दान दो' ऐसा कहनेके साथ कहनेवालेके शरीरमेंसे लज्जा, शोभा, बुद्धि, कान्ति और लक्ष्मी निकल जाती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये

जो पांच विषय हैं, उन पांचोंके भोग—पदार्थों का ही परिग्रह होता है।

सुखके उत्पन्न करनेवाले वैराग्य, आत्मबोध और उपरति तीनोंका आपसमें मेल है, उन तीनोंमें आत्मबोध मुख्य है, वैराग्य और उपरति बोधके सहायक हैं, मेरा तेरा राग द्वेष और आसक्ति का वैराग्यसे नाश होता है और इसीसे दुःखका अभाव—सुख होता है, आत्मबोध वैराग्यका सहायक है। जब बोध होता है तब बोधजन्य सुख होता है, वैराग्यसे बोध और बोधसे उपरति होती है, उपरति शांति स्वरूप है, ऊपर जो गंगा तट पर वास बताया है उसमें स्वभावसे ही वैराग्य है क्योंकि राग करने योग्य वस्तुओंका वहां अभाव है, ऐसे ही वस्तु और भोग जो संग दोष को पैदा करनेवाले हैं, उनका भी वहां अभाव है, इसलिये कहा है कि वैराग्य किसको सुख देनेवाला नहीं है यानी सबको सुख देनेवाला है। जिसके चित्तमें वैराग्यका अंकुर निकलता है, उसे सब पदार्थों पर दोष दृष्टि होती है, विवेकसे युक्त चित्तमें भोगकी आशायें नहीं उठतीं, विवेकसे वैराग्यकी उत्पत्ति होती है, विवेक न हो तो वैराग्यकी उत्पत्ति ही असंभव है, शुद्ध अन्तःकरणमें विवेक होता है, सत् कर्म और सत्संगसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, इस प्रकार वैराग्यकी उत्पत्ति है, वैराग्य उत्पन्न होनेमें अनेक निमित्त होते हैं, भौतिक निमित्त न होते हुये जिसके अन्तःकरणमें स्वाभाविक वैराग्यकी उत्पत्ति हो, वह श्रेष्ठ मुमुक्षु कहा जाता है, मोक्षके अधिकारीके चार लक्षणोंमें वैराग्य दूसरा है तो भी वैराग्य-

की महत्वता सबसे अधिक है, संसारमें सब प्रकारके भोग उपस्थित होते हुये जिसके अन्तःकरणमें वैराग्य होता है, वह महान् भाग्यशाली है, विना निमित्त वैराग्य होनेसे उसका पूर्वका बहुत पुण्य प्रतीत होता है, ऐसा पुरुप मोक्षमार्गमें बहुत जल्दी प्रवेश करता है, निमित्त सहित भी जिसको सच्चा वैराग्य हो जाय, अंत तक शिथिल न पड़े और आगे प्रयत्न किये जाय तो मनुष्य देहका सार्थकरूप जो आत्मबोध है, उसे वह अवश्य प्राप्त कर लेता है, उसके वैराग्यको धन्य है, जिस वैराग्यसे इस शरीरमें यथार्थ आत्मबोधकी प्राप्ति और शांति हो।

नारदजीने व्यासजीसे अपने पूर्व जन्मकी कथा कही है, जिसमें भक्ति किस प्रकार हुई, वैराग्य किस प्रकार हुआ, एकांतमें जाकर तपश्चर्या करके परम शांति किस प्रकार प्राप्त की, यह सब इस प्रकार दिखलाया है:—पूर्व जन्ममें मैं एक दासीका पुत्र था, मेरी मा लोगोंकी टहल करके अपना गुजारा करती थी, जिस ग्राममें हम रहते थे, वहां एक समय जब मेरी उमर सात वर्षकी थी तब चातुर्मासमें बहुत सन्त लोग आ कर टिके थे, मेरी माताको देवदर्शन और साधु सन्तों पर प्रेम था, जहां कोई संत महात्मा आता वहां मुझे दर्शन करानेको ले जाती थी। इसी नियमानुसार वह मुझे इन त्यागियोंके पास ले गई। फिर तो मैं माताके बिना भी सन्तोंके पास जाने लगा। वहां मुझे कुछ प्रसाद खानेको मिल जाया करता था। कुछ प्रेमसे और कुछ बाल्यावस्थाकी खानेकी चाटसे मैं नित्य प्रति उनके पास जाने लगा

मेरी ऐसी रुचि देख कर मेरी माताने भी मुझे उन महात्माओंकी टहल करनेकी आज्ञा दे दी। जब मुझे वहां आनंद मालूम हुआ तब मैं वहां ही रहने लगा। जब कई दिन तक घर न जाता तब तो मेरी मा साधुओंके पास आ कर मिल जाती और घर पर चलनेका आग्रह करती। मेरा लड़कपन था तो भी मैं चंचल नहीं था, सब खेल कूद छोड़ कर शांत हो कर साधुओंके सामने बैठा रहता था, थोड़े वचन बोलता था। जिस कार्यके लिये संत मुझसे कहा करते थे, उसको मैं अपनी शक्तिके अनुसार प्रेमपूर्वक कर दिया करता था। वे मुनि लोग समदर्शी थे तो भी मेरी शांत प्रकृति देख कर मुझ पर विशेष प्रेम करते थे। महात्माओंकी बची हुई प्रसादी उनकी आज्ञासे मैं खा लिया करता था। इस प्रकार झूंठन खाते खाते मेरे सब पाप नष्ट हो गये और कुछ दिनमें मेरा चित्त शुद्ध हो गया। साधु धर्ममें मेरी रुचि बढ़ती गई और देखादेखी मैं भी जैसा मेरी समझमें आया ऐसा ईश्वर भजन करने लगा। वे महात्मा लोग परब्रह्मके गुणोंका कीर्तन और ध्यान किया करते थे, कहीं परब्रह्मका निरूपण और शंका समाधान भी हुआ करता था। उसे मैं विशेष नहीं समझता था तो भी वारंवार वह ही चर्चा होनेसे कुछ शब्दोंका भाव जानने लगा था। इस प्रकार मेरी ईश्वर भक्ति दृढ़ हुई और मैं देखने लगा कि मुझ परब्रह्ममें यह सत् असत् प्रपंच माया करके कल्पित है। चातुर्मास व्यतीत होने पर मुझमें सात्विक बुद्धि उत्पन्न हुई देख कर दीनों पर दया करनेवाले महात्माओंने

कृपा करके परम गुप्त ज्ञान मुझसे कहा जो भगवान्ने कहा है। उससे भगवान् वासुदेवकी मायाका प्रभाव ज्ञात हुआ। चातुर्मास पूर्ण होने पर वह संत मंडली वहांसे चली गई। उस समय मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैं सत्संगमें लगा हुआ था इसीसे बारंबार आनेवाले साधुओंके पास चला जाता था और ईश्वरकी तरफ मेरा अधिक प्रेम होता जाता था! अपनी माताका मैं एक ही पुत्र था वह कम बुद्धिवाली स्त्री और मूर्ख दासी जाति थी। उसका मुझ पर अनन्य प्रेम था। वह चाहती थी कि मेरे शुभके लिये मुझे एक क्षण भी अपनी नजरसे दूर न होने दे परन्तु पराधीन होनेसे वह ऐसा करनेमें असमर्थ थी। एक दिन दूध दुहनेको मेरी माता घरसे बाहर निकली। मार्गमें एक सर्प पड़ा हुआ था। उसके ऊपर मेरी माताका पैर पड़ गया और उसने उसको काट खाया और वह मर गई। भक्तके कल्याण करनेवाले हरिका अपने ऊपर अनुग्रह हुआ मान कर माताकी दाह क्रिया समाप्त करके मैंने उत्तर दिशाकी तरफ चल दिया। मार्गमें कई बड़े बड़े और छोटे छोटे ग्राम आये, कई वन उपवन आये। जंगलमें हाथियोंके तोड़े हुये वृक्ष देखे। गहन वनमें प्रवेश करते ही सर्प, उल्लू, पक्षी और श्यालोंका घोर शब्द सुनाई दिया, जिससे जंगल महा भयानक दीख पड़ता था। चलते चलते मैं थक कर शिथिल हो गया, भूख लग रही थी, प्याससे मुख सूखा जाता था, वहां मुझे एक नदी दिखाई दी, उसमें मैंने स्नान किया, जल-पान किया; शोभा वाली निर्मल जल वाली नदी के किनारे आये हुये

एक पीपलके वृक्षकी जड़में बैठ गया और जैसा मैंने सुना था ऐसे आत्मा—भगवान्‌का चिन्तवन करने लगा। भक्तिभावसे चित्तको एकाग्र करके भगवान्‌के चरण कमलोंका ध्यान करने लगा। उस समय प्रेमकी उमंगसे मेरे नेत्रों में आनन्दके अश्रु भर आये और कुछ समयके बाद धीरेधीरे हृदय में हरि प्रकट हुये; प्रेमावेशसे मेरे रोंगटे खड़े होगये और इतना परमानन्द प्राप्त हुआ कि मैं आनन्दके अथाह समुद्रमें डूब गया। अपने देह और संसार की मुझे कुछ भी सुध न रही! क्षण भर में ही अचानक भगवान्‌का मनमोहन, शोकनाशक, रमणीक स्वरूप मेरे हृदयमें अन्तर्हित होगया तब मैं उस स्वरूपको न देख कर बहुत ही उदास हुआ। फिर फिर मनको एकाग्र करके ध्यान करने लगा परन्तु फिरसे भगवान् का दर्शन न हुआ। उस एकान्त, निर्जन स्थानमें मैं कई रोज तक रहा और उस स्वरूपके देखनेकी इच्छासे बारम्बार ध्यान करता रहा परन्तु दर्शन न होनेसे अत्यन्त दुःखी था। एक दिन कहीं से आवाज आई "हे बालक! अब इस जन्ममें तुझे मेरा दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि तेरा अंतः-करण काम क्रोध आदिसे रहित भली प्रकार निर्मल नहीं हुआ है। ऐसे अन्तःकरणसे योगी मेरा दर्शन नहीं पाते और एक बार जो तुझे मेरा दर्शन हुआ है, वह तुझमें प्रेम बढ़ानेके निमित्त हुआ है क्योंकि मेरा प्रेमी भक्त धीरे धीरे संपूर्ण काम क्रोध आदि से शून्य होजाता है। थोड़े कालके सत्संगसे मुझमें तेरी भक्ति हुई है, तू इस निन्दनीय शरीर को त्याग कर मेरा मन बन जायगा।

तेरी बुद्धि मुझमें अचल होगी और कालान्तरमें मेरी कृपासे इस जन्मका ज्ञान रहेगा !" वाणी बन्द हुई, मैंने अपनेको अनुग्रहीत देख कर उस देवेश्वरको शिर झुका कर प्रणाम किया पश्चात् मैं उसी स्थान पर रह कर लज्जाको त्याग कर ईश्वर के परम गुप्त, कल्याणरूप नाम और लीलाओंका कीर्तन, स्मरण करता रहा। फलाहारसे अथवा व्रीहि आदि से निर्वाह करता हुआ सन्तोषके साथ अहंकार और इर्षा को त्याग कर कालकी राह देखने लगा। समय पाकर मेरा दूषित स्थूल शरीर गिर गया और मुझे दिव्य शरीर की प्राप्ति हुई। ईश्वर का मुझ पर पूर्ण अनुग्रह हुआ; मैं अपने स्वरूपमें स्थित हुआ ! हे व्यासजी ! तुम स्वयं जानते हो कि किस वैराग्यवान् को एकान्त स्थान सुखदायक नहीं होता, सबको ही सुख दाता होता है। वैराग्य ही अचल सुखका साधन है। एकान्तसे मिला हुआ वैराग्य ईश्वर स्मरणमें चित्तको जल्दीसे प्रवेश कराने वाला होता है। पूर्ण त्यागी ही योगी होता है। ईश्वरकी प्रसन्नता भी वैराग्य वाले पर ही होती है, ऐसी प्रसन्नता ही अखण्ड सुखको देने वाली है।" यह ही ऊपरके पदमें कहा गया है। जिसका कल्याण होनेका समय निकट आता है, उसे ही वैराग्य की सिद्धि प्राप्त होती है, उसको ही एकान्त स्थान और ईश्वर स्मरणमें रुचि होती है। वह ही प्रयत्नपूर्वक परमपद को प्राप्त कर सकता है।

* चर्पट पंजरिका समाप्तः *

वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

वेदान्त दीपिका।

इस ग्रंथ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रंथों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रंथ को पढ़ने से समूल नष्ट होजांयगी। ग्रंथ को पढ़ते समय जो शंकाएं नयी उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा। इसमें इस विषय के चौबीस प्रश्न हैं:—

ब्रह्म और जगत्, जीव, ज्ञान और अज्ञान, अद्वैत, स्वर्ग नरक और मोक्ष, माया और मोक्ष, ब्रह्म की असंगता, पुनर्जन्म, कर्म का फल, कर्त्ता भोक्ता, जीव सर्वज्ञ क्यों नहीं ?, प्रारब्ध, जीव का शरीर से निकलना, मोक्ष की इच्छा, सत् और असत्, आत्मा की चैतन्यता, जन्म किसका ?, मैं कौन हूँ, जीव सृष्टि और ईश्वर सृष्टि, शास्त्र का प्रयोजन, दुःखकर जगत्, आत्मा शुद्ध कैसे हुआ ? ईश्वर की समानता, ज्ञानी जन्म रहित कैसे ?

प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुसार दृष्टान्त देकर ग्रंथ अत्यन्त रोचक बनाया गया है। इसमें ये दृष्टान्त आये हैं:—

श्रीकृष्ण भगवान् ने सुदामा को माया दिखलाई, दक्षयज्ञ, महादेव और गणपतिका युद्ध, भीष्म और काशीराज की तीन पुत्रियां, व्यासजी ने जैमिनीजी को काम की प्रबलता दिखलाई, रंग बदलने वाला पक्षी, काशीका द्वैतवादी पंडित, इन्द्र नहुष और शची की कथा, शिव भक्त पंडित को महादेवजी ने ग्यारह सौ रुपये दिलवाये, एक तोते को किस प्रकार ज्ञान हुआ ? एक लड़के को गुदा में गिरगिट घुस जाने का भ्रम, माया को अनादि बताने में महात्मा की युक्ति, हिमालय पहाड़ की अन्धेरी गुफा, एक संत और राजा की मित्रता, एक से अनेकता समझाने की युक्ति, मुंबई का एक चित्र बनाने वाला लड़का, एक हारमोनियम बजाने वाला लड़का, एक लड़के का पूर्व जन्म का कथन, मेस्मेरिज्म द्वारा साहूकार की आत्मा का आवाहन, बूढ़ा जवान और जवान बूढ़ा बना, एक सीधे साहूकार को एक बदमासने ठग लिया, अन्धा बिलाव और लंगड़ा रीछ, गरीब साधु और राजा साधु, श्यामलाल मर कर जी उठा, चीन का कैदी, मूशल अधर छोड़ने वाली दो स्त्रियां, आगरे का विषयासक्त मनुष्य, फोटोग्राफर और भील, राजा राजकुमार और गाड़ी बनाने वाला एक अंग्रेज, नाटकशाला, एक साहूकार की दो स्त्रियां, एक ठग साधु के भेष में एक नीतिवान राजा ने रुपया उधार लिया, राजकुमारी का पिंडरोगी पति, काशी में पढ़ा हुआ लड़का, स्कोटलेंड का लड़का और लोर्ड मेयर, एक अन्धा, राजकन्या और पंडित का लड़का, एक मूर्ख

मनुष्य और टट्टू, लोभीराम वैश्य, अपना ही बनाया हुआ नाटक का तमाशा, एक चमत्कार वाला साधु, संत और तीन मुमुक्षु, आयुर्वेद विशारद वैद्य, राजकन्या का गर्व, ब्राह्मण नशा करके पागल हुआ, भेड़ियों की टोली में एक लड़का, दो कैदी, साहूकार और मोची ये दृष्टान्त हैं।

इस ग्रंथ की भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। वेदान्त जैसे विषयको अत्यन्त सरलता से समझाने वाला यह ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। कपड़े की मजबूत जिल्द मूल्य रु० १॥) डाक खर्चा अलग।

उपासना।

इस पुस्तक में विविध प्रकार की उपासनाओं का सविस्तर वर्णन करते हुये उनके रहस्य को भी समझाया है। साकार, सगुण, निर्गुण, कार्यब्रह्म की प्रतीक उपासना और कारणब्रह्म की अहंग्रह उपासना—इनको करने की रीति दिखलाई है। शास्त्रानुसार स्वयम् अनुभव करके पुस्तक की रचना की गई है इसीसे जैसे प्रत्यक्ष उपदेश हो रहा हो ऐसा स्पष्ट बोध होता है।

उपासना करने के समय में शरीर मन और ध्येय आदिक को कहां और किस प्रकार रखना आदि सब बहुत सादी भाषा

में समझाया है; इसमें भूल होने से कौनसी भूल से किस प्रकार हानि होती है यह भी बतला दिया है। दृष्टांत रूप से विष्णु की साकार उपासना का विवेचन है; उस प्रकार अन्य देव देवी की उपासना भी कर सकते हैं। इस पुस्तक के अनुसार श्रद्धा सहित उपासना करने वाले अभ्याससे सुलभता के साथ समाधि को प्राप्त कर सकते हैं और इष्ट की प्राप्ति होती है। इसके अनुसार उपासना करके आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं।

उपासना में मनका भाव किस प्रकार का होना चाहिए उसे समझाने के लिये राजकुमार अवीक्षित की रानीका दृष्टांत दिया है। अनेक आपत्तियां सहन करते हुए भी रानी अपने भावसे विचलित नहीं होती।

ब्रह्मलोक और परमपद की प्राप्ति के लिये मुक्तिनाथ जाने वाले दो मुसाफरों का दृष्टांत है। मुक्तिनाथ जाते हुए भी भोग की लालसा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होना दिखलाया है। ब्रह्मोपासना में ज्ञान और उपासना के भेद को समझाते हुए गुलाम राजा बना इस दृष्टांत से परमपदकी प्राप्तिका कथन किया है। कई प्रकार से भिन्न २ प्रकार की ब्रह्मोपासना को समझाया है। ॐकार की उपासना जिसमें भावके अनुसार उपासना का फल और स्थान कोष्टक देकर के समझाया है। पांच मित्रों की मुसाफरी और भिन्न भिन्न फल का वर्णन है। अर्जुन और दुर्योधन

के दृष्टांत से दोनों की कामना के अनुसार फल में किस प्रकार भेद हुआ यह समझाया है।

गायत्री का मार्मिक रहस्य भेदी वर्णन है। एक अलौकिक मंदिर के दृष्टांत से गायत्री को समझाया है और समुद्र पार के राजा का भी दृष्टांत है। ऐसे ही ॐकार का भी वर्णन है और उसे समझने को भूमा का अलौकिक दृश्य दृष्टांत है।

अन्त में उपासना करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए एक भस्तराम का कथन किया हुआ ब्रह्मतरंग है जो मुमुक्षुओं के अद्वितीय भावको दृढ़ करने के लिये बहुत ही उपयोगी है। उपासकों को यह पुस्तक अवश्य लाभ पहुंचाती है। मूल्य ॥) डाक खर्चा अलग।

कौशल्य गीतावली।

भाग—१—२

वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञानके संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। कर्ता पं० शंकरलाल कौशल्य (भोलेबाबा) प्रत्येक भाग का मूल्य ।=)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह।

श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और

प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ।।) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

वेदान्त केसरी ।

मासिक पत्र-नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) पिछले प्रत्येक सालकी बारह अंकों की बंधी हुई जिल्द का मूल्य ३) डाक महसूल अलग।

व्यवस्थापक—

वेदान्त केसरी,

बेलनगंज-आगरा।